भारतीय चित्रकला
लेखक
नानालाल चमनलाल मेहता
इं० सि० सर्विस
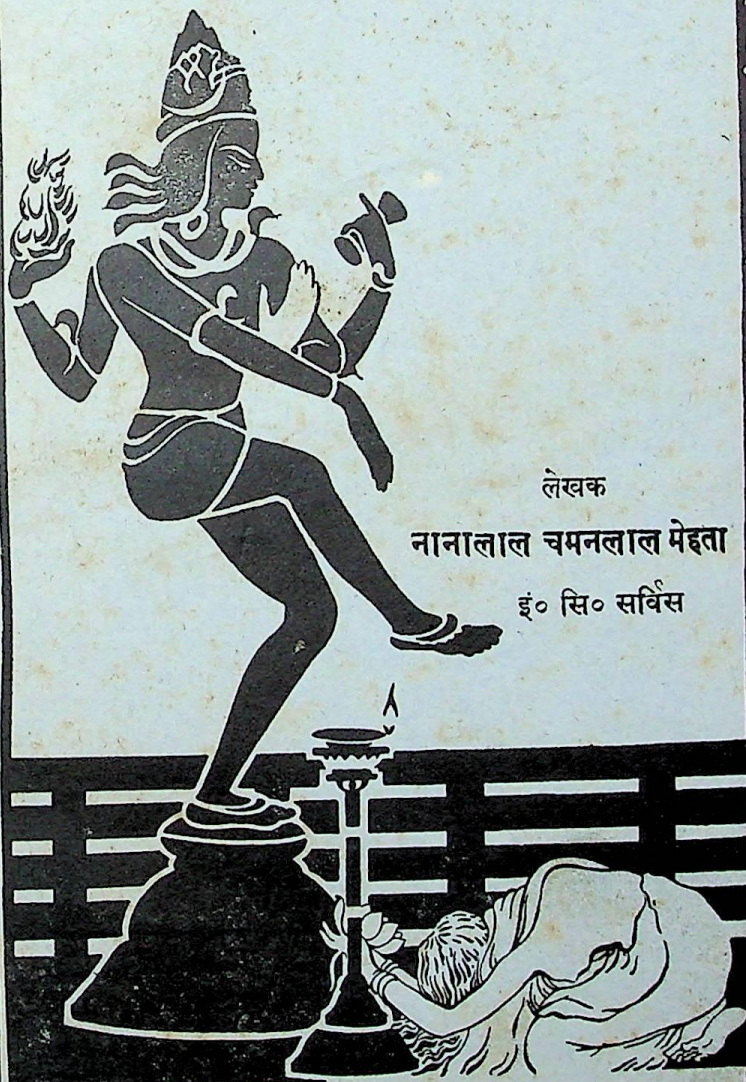
भारतीय चित्रकला

[विशेषतया १६ वीं शताब्दी के आरंभ से १९ वीं शताब्दी के अंत तक]

लेखक

श्री नानालाल चमनलाल मेहता

इंडियन सिविल सर्विस

इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०

१९३३

प्रकाशक

डाक्टर ताराचन्द

हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मुद्रक

महेन्द्रनाथ पाण्डेय

इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद

शान्ता
को
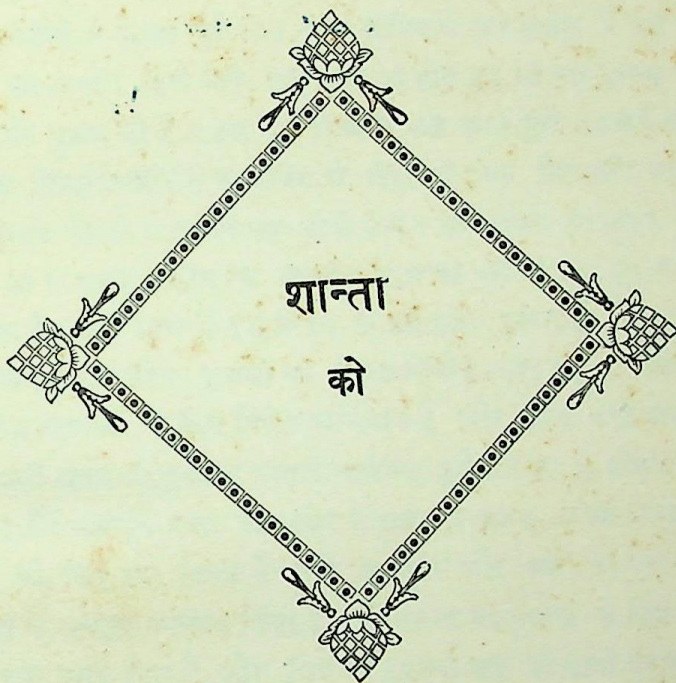
प्राक्कथन

भारतीय चित्रकला पर १९३२ के मार्च में व्याख्यान देने के लिए मुझे हिंदुस्तानी एकेडेमी से आज्ञा हुई थी। परंतु अनिवार्य कारण-वश मैं उस का पालन नहीं कर सका। हिंदी मेरी मातृभाषा न होते हुए भी इस पुस्तक को लिखने की मैंने धृष्टता की है। इस प्रांत में आज कल करते मुझे १७ वर्ष बीत गए। अनेक विद्या-व्यसनियों के सत्संग से हिंदी की तरफ़ मेरी रुचि बढ़ी। परंतु यह पुस्तक लिखने के पहिले एक हिंदी निबंध भी लिखने का साहस मैंने नहीं किया था। कहना चाहिए कि भारतीय कला का प्रेम ही इस धृष्टता का प्रबल कारण है। हिंदी भाषा में इस विषय की यह प्रथम पुस्तक है। परंतु इसे अन्य भाषाओं में प्रकाशित पुस्तकों का केवल निचोड़ नहीं कहना चाहिए। मुझे भारतीय भाषाओं के लिए विशेष अभिमान है और सदैव मेरी धारणा रही कि हमारी भाषा की दुर्बलता हमारी आत्मिक दुर्बलता का ही द्योतक है। इसी कारण मैंने भारतीय कला की संक्षेप से सामान्य पाठक के लिए अवतारणा नहीं की, किंतु इस विषय में अपने अभ्यास और श्रम का पूरा फल हिंदी जनता के सम्मुख उपस्थित किया है। चित्रकला की पुस्तक के लिए सब से प्रधान वस्तु उसके चित्र हैं, और चित्र की सामग्री धन की मात्रा पर अवलंबित है। इस समय देश की आर्थिक स्थिति कठिन है, इस कारण जो नए नए और रसपूर्ण चित्र दिए जा सकते थे उन का प्रकाशन असंभव रहा। फिर भी इंडियन प्रेस और एकेडेमी की सहायता से ४० चित्रों का प्रकाशन संभव हुआ है। भारतीय कला की चित्र-संपत्ति जो प्रायः सभी विदेशों में बिखरी पड़ी है, इतनी अटूट है कि उस के प्रकाशन के लिए बहुत धन और श्रम की आवश्यकता है। सौभाग्य से भारत-कला-भवन के उद्घाटन से इस प्रांत में अब एक संस्था ऐसी वर्तमान है कि जहाँ भारतीय चित्रकला का रसप्रद अध्ययन हर कोई काशी-यात्री आसानी से कर सकता है।

भारतीय चित्रकला का अध्ययन अभी किशोरावस्था में ही है। विशेषतया हमारे देश में तो उस का जैसा चाहिए वैसा अध्ययन शुरू ही नहीं हुआ, यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। इस विषय में जो रुचि और रस होना चाहिए उसका लोगों में प्रायः अभाव है। शिक्षितजन भी उस से उदासीन हैं। हमारे यहाँ का शिक्षितसमाज देश की एक जटिल समस्या है, क्योंकि जन्म से भारतीय होते हुए भी उस का मानस विदेशी रंगों से रंगा हुआ है। स्वानुभव से मुझे ज्ञात है कि इस समाज में अपनी प्राचीन कलाओं के संबंध में रसजागृति करना सब से कठिन कार्य है। इसी कारण मैंने इस पुस्तक में चित्र-मीमांसा पर एक प्रकरण लिखा है, इस आशा से कि हमारे शिक्षित-युवक-गण भारतीय कला को, उस की रचनाओं को, उस के आदर्शों को समझने की कोशिश करें।

वैसे तो मेरा विषय भारतीय चित्रकला का बाबर से ले कर के लगभग १८५० के इतिहास तक सीमित था। परंतु भारतीय चित्रकला के विकास का पूरा रेखाचित्र हिंदी पाठकों के लिए मुझे आवश्यक जान पड़ा। मुग़लों से पूर्व की चित्रकला संबंधी जो कुछ सामग्री मिलती है उस का भी संक्षेप से उल्लेख किया गया है। मुग़ल और 'राजपूत' कला को समझने के लिए सब से भारी आवश्यकता चित्रों की है; साहित्यिक टिप्पणियों की उतनी ज़रूरत नहीं। १७ वीं, १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के हिंदू शैली के चित्र हज़ारों की संख्या में अभी तक देश में विद्यमान हैं। हिंदी काव्य-ग्रंथों को समझने, और अलंकृत करने के लिए इन चित्रों से बढ़ कर और कोई साधन नहीं है। आज-कल के सामयिक पत्रों में छपने वाले आधुनिक चित्रों की जगह पुराने चित्रों का कुछ अधिक उपयोग हो तो भारतीय चित्रकला की बहुत कुछ सेवा हो सकती है। हिंदू-शैली के चित्रों का वर्ण-विधान अनुपम है। इसी कारण रंगीन प्रतिकृतियों से ही असली चित्रों का कुछ यथार्थ दर्शन हो सकता है। मैं समझता हूँ कि प्राचीन चित्रावलियों के प्रकाशन से जनता की रुचि का बहुत कुछ परिष्कार हो सकता है और भारतीय जीवन में कला का जो स्थान होना चाहिए उस प्रवृत्तिमार्ग में भी अच्छी उन्नति हो सकती है। आधुनिक चित्रकारों की

कृतियाँ समझने के लिए भी यह शिक्षण बड़ा ही लाभ-प्रद होगा। सामयिक पत्रों में इस समय जो चित्र छपते हैं वह प्रायः निम्नकोटि के होते हैं, जिन से न प्रजा में रस-दृष्टि ही जाग्रत होती है, न कला का पोषण ही होता है।

भाषा के लिए साहित्यिक सज्जनों से मैं पहले ही अनुनय कर चुका हूँ। लेखन शैली की अनेक त्रुटियाँ होंगी। परंतु वह अनिवार्य है। एक तो मैं हिंदी में अनभ्यस्त, दूसरे विषय भी नया, जिस की परिभाषाएँ मुझे लिखते-लिखते क़ायम करनी पड़ी हैं। किंतु मैंने जो कुछ कहना चाहा है वह यदि पाठकों को सुबोध एवं रोचक प्रतीत हुआ तो मैं समझूँगा कि मेरा परिश्रम सफल हुआ और त्रुटियों के लिए मुझे क्षमा मिल गई। इस पुस्तक के लिखते समय मुझे एक अजीब प्रतीति हुई है। वह यह कि हिंदी-भाषा में किसी विषय पर लिखना कठिन नहीं है, क्योंकि संस्कृत भाषा के महासागर में पारिभाषिक शब्दों का अटूट भंडार भरा पड़ा है। उसे ढूँढ़ने के लिए परिश्रम और अभ्यास अनिवार्य है। पुस्तक लिखने में मुझे स्वयं भी बहुत कुछ शिक्षालाभ हुआ है। मैं आशा करता हूँ कि उस का कुछ अंश मेरे पाठकों को भी प्राप्त हो।

यह पुस्तक मैंने लिखी नहीं है वरन् लिखवाई है। बाबू कृष्णानंद गुप्त को इस साहाय्य के लिए मैं धन्यवाद देना चाहता हूँ। सर कवासजी जहाँगीर, बाबू अजितकुमार घोष, राय कृष्णदास और लंदन के प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेता—Bernard Quaritch और Maggs के चित्रों की फोटो के लिये तथा बाबू मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर दलजीत सिंह राठौर के प्रूफ़-संशोधन के लिये मैं ऋणी हूँ। डाक्टर ताराचंद ने इस पुस्तक के लिखने में मुझे उत्साहित किया, इसलिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

फ़तेहपुर यू० पी०
१२ फ़रवरी, १९३३ ई०

नानालाल चमनलाल मेहता

विषय-सूची

चित्र-सूची

चित्र-मीमांसा

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रषडंगकम् ॥

चित्रों के विषय में आधुनिक जनता एवं शिक्षित जन कुछ ऐसे उदासीन हैं कि कला में चित्र का क्या स्थान है, उस की गुण-परीक्षा किस प्रकार से की जाती है, और साहित्य एवं कला में जिसे रस कहते हैं वह क्या है, आदि विषयों की विवेचना अप्रासङ्गिक न होगी। वैसे तो भरत नाट्यशास्त्र के जमाने से हमारे आचार्यों ने सदियों तक कविता क्या वस्तु है इस पर विचार किया। कविता कला का एक अंग है। उस के संबंध में जो कुछ चिन्तन हमारे प्राचीन साहित्यकारों ने किया है उस का संबंध अन्य कलाओं से भी है। खास चित्रकला के संबंध में भी कई प्राचीन ग्रंथों में उल्लेख मिलते हैं, उन में से सुविस्तृत और रसपूर्ण उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर पुराण के प्रसिद्ध अध्याय 'चित्रसूत्र' में है। इस का अंग्रेज़ी में डा० स्टेला क्रामरिश (Dr. Stella Kramrisch) ने अनुवाद किया है। उस से अच्छा अनुवाद डा० आनन्दकुमार स्वामी अभी हाल में प्रकाशित कर रहे हैं। शिल्प, नृत्य और चित्र का महत्त्व समझने के लिए चित्रसूत्र इतना महत्त्व का ग्रंथ है कि उस का प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में किसी सुयोग्य व्यक्ति द्वारा तुरंत कराना चाहिए; विशेष कर जब ललित-कला काशी विश्व-विद्यालय के शिक्षण-क्रम का अङ्ग बनी है।

ग्रंथ के प्रारम्भ में ही मार्कण्डेय मुनि कहते हैं "बिना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्"—नृत्यशास्त्र के अभ्यास के बिना चित्रसूत्र समझना कठिन है। चित्रकार का काम खिलवाड़ नहीं था, वरन् एक ऐसा गंभीर और पवित्र कार्य था कि चित्रकार को अपने इष्टदेवताओं का अभिवादन करके ही आलेखन आरंभ करना चाहिए—

ब्राह्मणान्पूजयित्वा तु स्वस्तिवाच्य प्रणम्य च ।

तद्विदश्च यथान्यायं गुरूंश्च गुरुवत्सलः ॥ श्लो० १२ अ० ४० ॥

ईसवी सन् ११२९ में चालुक्यवंशतिलक कल्याणनरेश सोमेश्वरभूपति ने 'अभिलषितार्थ-चिंतामणि' वा 'मानसोल्लास' नाम का विलक्षण ग्रंथ लिखा, जो १९२६ में मैसूर विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया। तृतीय अध्याय के प्रथम प्रकरण में १९५ से ले कर २५८ तक के पृष्ठ चित्रकला के अभ्यासियों के लिये विशेष महत्त्व के हैं। सोमेश्वर अपने को चित्र-विद्याविरञ्चि कहते हैं और उन के मतानुसार चित्र चार प्रकार के होते हैं।

१—विद्धचित्र—जिस में वस्तु का साक्षात्कार होता है या उस की आबेहूब प्रतिकृति होती है। (सादृश्यं लिख्यते यत्तु दर्पणे प्रतिबिम्बवत् पृ० २८१) परंतु इस 'सादृश्य' का अनुभव चित्रकार अपने मन से करता है (दृश्यमानस्य चेतसः) ।

२—अविद्ध-चित्र—जिस का विधान आकस्मिक-कल्पना से ही होता है। (आकस्मिके लिखामीति यदा तूद्दिश्य लिख्यते। आकारमात्रसम्पत्त्वे तदविद्ध-मिति स्मृतम्) अविद्धचित्रों के प्राण उन के आकार में—रचना में ही होते हैं।

३—रसचित्र—(जिस की व्याख्या उन्हीं शब्दों में दी गई है जो श्रीकुमार ने अपने 'शिल्परत्न' में उद्धृत किये हैं) ।

४—धूलिचित्र ।

मानसोल्लास के पृष्ठ चित्रकारों के लिए लिखे गए हैं। आरंभ में सुंदर श्लक्ष्ण (चिकनी) क्षतविवर्जित, दर्पणाकार दीवारों पर की ज़मीन नाना प्रकार के वर्ण-विचित्र चित्रों के लिये बनाने की सूचना दी गई है। ऐसे चित्रों के विधायक प्रगल्भ, भावुक, सूक्ष्म-रेखा-विशारद, निर्माण-कुशल, पत्र-लेखन-कोविद और चतुर 'वर्णकार'—रंगरेज़—होना चाहिए। फिर 'वज्रलेप' बनाने की विधि का वर्णन किया गया है। यह 'वज्रलेप' ताज़ी भैंस की खाल को पानी में उबाल कर तय्यार किया जाता है। जब खाल मक्खन की भाँति मुलायम और चिकनी हो जाती है तब उस को आहिस्ते से सुखा कर उस की शलाका बनाई जाती है, यही 'वज्रलेप' है, जिस के द्वारा चित्र के लिए उपयुक्त भूमि

तय्यार की जाती है और जिस के मिश्रण से चित्र के रंग बैठाए जाते हैं। शुष्क-भित्ति 'वज्रलेप' और श्वेत मिट्टी से तीन बार पोती जाती है। शङ्खचूर्ण, शक्कर, वज्रलेप और 'चंद्रसमप्रभ'—श्वेत जस्ताभस्म—से भूमि बार बार लीपी जाती है और जब स्वच्छ और दर्पण तुल्य हो जाती है तब चित्रकार 'आलेख्य-कर्म' करता है—

पश्चाच्चित्रं विचित्रं च तस्यां भित्तौ लिखेद्बुधः ।
नानाभावरसैर्युक्तं सुरेखं वर्णकोचितम् ॥१५०॥

अनेक प्रकार की कूंचियों का—तूलिका, वर्तिका वा लेखिनी का—वर्णन किया गया है। लेखनी भी तीन प्रकार की होती है स्थूल, मध्य और सूक्ष्म। प्रारंभ में वर्तिका से—बारीक कूंची से—'तिण्डुक' लेख्य-रेखाचित्र-बनाया जाता है। पुनः वर्णविहीन 'आकारमात्रिका रेखा' गेरू से बना कर पीछे रंग-विधान किया जाता। स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय चित्रकार का 'सादृश्य' उस का मनोगत अनुभव था; उस की मानसिक प्रतीति थी। वैज्ञानिक प्रतिकृति का 'विद्धचित्र' में—शबीह इत्यादि में—स्थान हो सकता है, अन्य चित्र के लिए—

भित्तौ निवेशितस्यास्य दृश्यमानस्य चेतसा ।
तन्मानेन लिखेल्लेखां सर्वाङ्गेषु विचक्षणः ॥

शुद्ध और मिश्र रंगों का भी वर्णन किया है। अभिलषितार्थचिंतामणि के मतानुसार शुद्ध वर्ण केवल चार हैं। रेखाओं का न्यूनाधिकत्व तीक्ष्ण छुरी की धार से दूर करना चाहिए—'क्षुरेण तीक्ष्णधारेण रेखां न्यूनाधिकां हरेत्'। परंतु 'मृदुघर्षणयोगेन यथा शङ्खो न नश्यति'—इस तरह जिस से नीचे के सफ़ेद पलास्टर को नुक़सान न हो। उस के पश्चात् आभरणों के लिए सुवर्णरज बनाने की विधि कही है। जब तक सुवर्णलेप प्रभात की अरुणिमा के रंग का ('बालार्क रुचिरच्छवि') न हो तब तक उस को पानी से गलाना चाहिए और फिर वज्रलेप के साथ मिला कर चित्र में उस का उपयोग करना चाहिए। सूखने के बाद उस को वाराह-दंत से कान्तिमय बनाना चाहिए।

शुद्धं सुवर्णमत्यर्थं शिलायां परिपेषितम् ।
कृत्वा कांस्यमये पात्रे गालयेत्तन्मुहुर्मुहुः ॥

क्षिप्त्वा तोयं तदालोड्य निर्हरेत्तज्जलं मुहुः ।
यावच्छिलारजो याति तावत्कुर्वीत यत्नतः ॥
घनत्वान्मसृणं हेम न याति सह वारिणा ।
आस्ते तदमलं हेम बालार्करुचिरच्छवि ॥
तत्कल्कं हेमजं स्वल्पवज्रलेपेन मेलयेत् ।
मिलितं वज्रलेपेन लेखिन्यग्रे निवेशयेत् ॥
लिखेदाभरणं चापि यत्किञ्चिद्धेमकल्पितम् ।
चित्रे निवेशितं हेम यदा शोषं प्रपद्यते ॥
वाराहदंष्ट्रया तत्तु घट्टयेत्कनकं शनैः ।
यावत्कान्तिं समायाति विद्युच्चकितविग्रहम् ॥

चित्रों की रूपरेखा कज्जल से बनाना चाहिए और लाख से वस्त्राभरण, पुष्प, मुखरागादिक बना कर फिर रंगविधान होना चाहिए।

सर्वचित्रेषु सामान्यो विधिरेष प्रकीर्तितः ।
प्रान्ते कज्जलवर्णेन लिखेल्लेखां विचक्षणः ॥
वस्त्रमाभरणं पुष्पं मुखरागादिकं सुधीः ।
अलक्तेन लिखेत्पश्चाच्चित्रवर्णं भवेत्ततः ॥

'चित्रसूत्र' की परंपरा के अनुसार सोमेश्वर भी नवस्थान (poses) का वर्णन करता है। 'त्रिवेणी' के जुलाई-अगस्त १९३२ के अंक में श्रीयुत शिवराम-मूर्त्ति ने अठारवीं शताब्दी के बसप्पनायक कृत 'शिवतत्वरत्नाकर' के सम्बन्ध में एक महत्त्व का लेख प्रकाशित किया है। बसप्पनायक भी सोमेश्वर की तरह एक राजन्य था। 'शिवतत्वरत्नाकर' में आलेख्य-कर्म का वर्णन 'अभिल-षितार्थचिन्तामणि' के शब्दों में है। प्रायः 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' के श्लोक के श्लोक उद्धृत कर दिए गए हैं या उन का अक्षरशः अनुवाद कर दिया गया है।

ई० सं० १९२२ में महामहोपाध्याय पं० गणपति शास्त्री ने केरल-निवासी श्रीकुमारकृत 'शिल्परत्न' नामक ग्रंथ का प्रकाशन किया था। यह ग्रंथ १६ वीं शताब्दी का है। परंतु प्राचीन परम्परा के आधार पर बना हुआ है। चित्र-लक्षण के अध्याय में चित्र की व्याख्या निम्नलिखित दी है—

जङ्गमा वा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते ॥

तीनों लोकों की जंगम, स्थावर वस्तुओं का स्वाभाविक चित्रण हो चित्र है। इस से यह सिद्ध होता है कि आलेखन और तक्षण दोनों के लिए चित्र शब्द का उपयोग किया जाता था। आलेखन के अर्थ में चित्राभास शब्द का भी प्रयोग किया गया है। चारों ओर से जिस वस्तु का निरीक्षण किया जा सके, ऐसे वस्तु-विधान को चित्र कहते थे। अंग्रेज़ी में इस को Sculpture in Round कहते हैं। Relief को—जो केवल सामने से ही दृश्य है उस को अर्द्धचित्र कहते थे।

तच्चित्रं तु त्रिधा ज्ञेयं तस्य भेदोऽधुनोच्यते ।
सर्वाङ्गदृश्यकरणं चित्रमित्यभिधीयते ॥
भित्यादौ लग्नभावेनाप्यर्धं यत्र प्रदृश्यते ।
तदर्धचित्रमित्युक्तं यत्तत्तेषां विलेखनम् ।
चित्राभासमिति ख्यातं पूर्वैः शिल्प विशारदैः ॥

श्रीकुमार ने चित्रों के तीन भेद गिनाये हैं—

(१) धूलि-चित्र, (२) सादृश्य-चित्र—दर्पण में प्रतिबिंब के समान—(सादृश्यं दृश्यते यत्तुदर्पणे प्रतिबिंबवत्) और (३) रस-चित्र, (शृंगारादि रसो यत्र दर्शनादेव गम्यते)। दूसरी श्रेणी में मुग़ल कला के लगभग तमाम चित्र आ जाते हैं। हिंदू कला के अधिकतर चित्र तीसरी श्रेणी के हैं। धूलि-चित्र अभी तक हिंदुस्तान में प्रायः सर्वत्र बनते हैं। बंगाल में उन को 'अल्पना' तथा गुजरात और संयुक्त प्रांत में चौक पूरना कहते हैं। व्रज और बुंदेल-खंड में उत्सवों के दिन जो रंगोन धूलि-चित्र बनाये जाते हैं उन्हें 'साँझी' कहते हैं। भित्ति-चित्र बनाने के भी नियम दिये गए हैं। "दर्पण की तरह साफ़ और चिकनी दीवार पर चित्रालेखन करना चाहिए" ऐसा लिखा है।

"एवं धवलिते भित्तौ दर्पणोदरसन्निभे ।
फलकादौ पटादौ वा चित्रलेखनमारभेत् ॥"

फिर एक स्थान पर कहा है कि चित्रों का विषय वेद, पुराणों से लेना

चाहिए; एवं विविध-वर्ण-विभूषित, विषयोचित आकार, रस, भाव और क्रिया-युक्त (Rhythmic) आलेखन करना चाहिए। ऐसे चित्रों से स्वामी और सेवक दोनों का कल्याण होता है।*

'शिल्परत्न' के नियमों की परंपरा 'चित्रसूत्र' की परंपरा से भिन्न नहीं है। इसी कारण चित्रसूत्र का यहाँ कुछ विस्तार से विवरण दिया जाता है।

चित्रसूत्र के ४१वें अध्याय में निम्नलिखित ४ प्रकार के चित्रों का वर्णन है—

सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र। उसी अध्याय के नीचे लिखे श्लोकों में इन चित्रों की विशेषता भी वर्णित है—

यत्किंचिल्लोकसादृश्यं चित्रं तत्सत्यमुच्यते।
दीर्घाङ्गं सप्रमाणं च सुकुमारं सुभूमिकम् ॥ २ ॥
चतुरस्रं सुसम्पूर्णं न दीर्घं नोल्वणाकृति।
प्रमाणस्थानलम्भाढ्यं वैणिकं तन्निगद्यते ॥ ३ ॥
दृढोपचितसर्वांगं वर्तुलं नद्यनोल्वणम्।
चित्रं तं नागरं ज्ञेयं स्वल्पमाल्यविभूषणम् ॥ ४ ॥

सारांश यह है कि जिस चित्र में संसार की वस्तुओं का तद्वत् चित्रण होता है उसे सत्य कहते हैं। शरीर के बड़े बड़े भागों का जिस में पारस्परिक अनुपात ठीक हो, जिस में रेखाएँ कोमल हों और जिस का आधार सुंदर हो, जो चारों ओर से दृश्य हो, सर्वाङ्ग संपूर्ण हो, न बहुत दीर्घ हो, न बहुत छोटा हो, जिस के अनुपात, स्थान और लंब ठीक हों, ऐसे चित्र को वैणिक कहते हैं। जिस में सर्वाङ्ग दृढ़ रेखाओं से चित्रित हों और जो गोलाकार हो, तथा न दीर्घ, न खर्व हो, तथा माल्य और अलंकार की जिस में अधिकता न हो ऐसे चित्र को नागर चित्र कहते हैं।

रेखा-सौंदर्य पर एशिया भर की चित्रकला का दारोमदार है। बल्कि

---

*पूरे विवरण के लिए देखिए, श्री० के० पी० जायसवाल का लेख, 'A Hindu Text on Painting' The Journal of the Bihar and Orissa Research society Vol. IX, 1923

यह कहना अनुचित न होगा कि पौरस्त्य चित्र केवल रंगीन रेखा-चित्र हैं। आलेख्य वस्तु को रेखा-बद्ध करके ही रंग-विधान किया जाता है। पहले चित्र का ख़ाका खींचते हैं, फिर उस में रंग भरा जाता है—यहाँ तक कि अकबर के ज़माने के महाभारत के फारसी अनुवाद 'रज़्मनामा' के अतीव सुंदर चित्र दो दो तीन तीन चित्रकारों के हाथ से बने हुए हैं। एक ने रेखा खींची है, जिसे चितेरों की भाषा में 'तरह' करना कहते हैं। दूसरे ने रंग भरा है जिसे 'रंगरेज़' अथवा 'रंगामेज़' कहते हैं। एक चित्र में कभी कभी 'तरह' के, रंग के, हाशिए के, बिलकुल अलग अलग कारीगर हुआ करते थे। १८वीं और १९वीं शताब्दी के कई चित्र बिना रंग के—'स्याह क़लम'—भी मिलते हैं। पुराने चित्रों के ये ख़ाके चित्रकारों के वंशजों के लिए बड़े ही उपयोगी और मूल्यवान साबित हुए, क्योंकि उन से, अमेरिका और यूरोप के श्रीमंतजनों के लिए, २०वीं शताब्दी में, हज़ारों की संख्या में जाली चित्र बने और बिके।

भारतीय चित्रकला में सादृश्य को बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। चित्रसूत्र-कार ने यहाँ तक कहा है कि—

चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम् ॥

अ० ४२। श्लो० ४८

चित्र में सादृश्य दिखाना ही उस की प्रधान विशेषता है। परन्तु इस सादृश्य से 'कैमरा' की वैज्ञानिक प्रतिकृति नहीं समझना चाहिए। कला के और विज्ञान के नियम बिलकुल पृथक् हैं। एक का संबंध कल्पना से है, दूसरे का वास्तविकता से। कल्पना की प्रेरणा के बिना कला-सृष्टि होना असंभव है, फिर चाहे उस का वाहन कविता, नृत्य, शिल्प, स्थापत्य, या चित्र हो। चित्र-सूत्रकार ने बहुत ही सुन्दर ढंग से, नाना विषयों में किस प्रकार चित्रकला का उपयोग करना चाहिए, इस का वर्णन किया है। नदियों को वाहनों के साथ दिखाना चाहिए, देवताओं को अपनी पत्नियों के साथ 'माल्यालंकारधारी' 'लिखना' चाहिए। ब्राह्मणों को शुक्लाम्बरधर, ऋषियों को जटाजूटोपशोभित, प्रजाजनों को शुभ वस्त्र-विभूषित, और गायक तथा नर्त्तकगण को बांकी पोशाक में दिखाना चाहिए। आकाश को उडुगणों से विभूषित, अथवा विवर्ण

और पक्षियों से भरा हुआ, पर्वतों को उत्तुंग शिखरों और अनेक वृक्षों से सुशोभित, निर्झरों को जल विन्दुओं से झरते हुए, बनों को नाना प्रकार के वृक्ष, विहंग और पशुओं सहित, पानी को अनेक मत्स्य, कच्छप आदि जलचरों से भरा हुआ, और नगरों को अनेक सुन्दर राजमार्ग और उद्यानों से रमणीय बनाना चाहिए।

ऋतु-चित्र बनाने की भी नियमावली दी गई है—

दर्शयेत्सरजस्यं च शय्यां कर्णोत्करावृताम् ॥
सद्वृत्तमानवप्रायां वृष्टिं वृष्ट्याम्प्रदर्शयेत् ॥ ७२ ॥
प्राणिनां क्लेशतप्तानामादित्येन निदर्शनम् ॥
वृक्षैर्वसन्तजैः फुल्लैः कोकिलामधुपोत्कटैः ॥ ७३ ॥
प्रहृष्टनरनारीकं वसन्तं च प्रदर्शयेत् ॥
क्लान्तैः कार्यं नरैर्ग्रीष्मं मृगैश्छायागतैस्तथा ॥ ७४ ॥
महिषैः पङ्कमलिनैस्तथा शुष्कजलाशयम् ॥
विहङ्गैर्द्रुमसंलीनैः सिंहव्याघ्रैर्गुहागतैः ॥ ७५ ॥
तोयनम्रघनैर्युक्तं सेन्द्रचापविभूषणैः ॥
विद्युद्विद्योतनैर्युक्तां प्रावृषं दर्शयेत्तथा ॥ ७६ ॥
सफलद्रुमसंयुक्तां पक्कसस्यां वसुन्धराम् ॥
सहंसपद्मसलिलां शरदं तु तथा लिखेत् ॥ ७७ ॥
सवाष्पसलिलस्थानं तथा लूनवसुन्धरम् ॥
सनीहारदिगन्तं च हेमन्तं दर्शयेद्बुधः ॥ ७८ ॥
हृष्टवायसमातङ्गं शीतार्तजनसंकुलम् ॥
शिशिरं तु लिखेद्विद्वान्हिमच्छन्नदिगन्तरम् ॥ ७९ ॥
वृक्षाणां पुष्पफलतः प्राणिनां मदतस्तथा ॥
ऋतूनां दर्शनं कार्यं लोकान्दृष्ट्वा नराधिप ॥ ८० ॥

अध्याय ४२

इसी भाँति संध्या और उषा के चित्र-विधान के भी उपयुक्त नियम दिये गए हैं।

कुछ श्रेणी के चित्र कई स्थानों के लिए निषिद्ध गिने गये हैं—युद्ध के, श्मशान के, तथा करुण और अमंगल चित्र कभी निवास स्थान में न बनाना चाहिए। राज्य-सभा और देवमंदिरों में सब प्रकार के चित्र रह सकते हैं, परंतु साधारण वासगृह में केवल शृंगार, हास्य और शांत रस के ही चित्र बनाने चाहिए। चित्रकार को अपने मकान में चित्र बनाने का क्यों निषेध किया गया है, इस का कारण समझ में नहीं आता—

चित्रकर्म न कर्तव्यमात्मना स्वगृहे नृप ॥ श्लो० १७ अ० ४३

अच्छे चित्रों के संबंध में लिखा है :—

लसतीव च भूलम्बो विभ्यतीव (?) तथा नृप ॥

हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते ॥२१॥

सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम् ॥२२॥ अ० ४३ ॥

इन तीन पंक्तियों में संपूर्ण चित्रकला का रहस्य निहित कर दिया गया है। सुंदर चित्र की व्याख्या यही है कि उस में माधुर्य, ओज और सजीवता हो। जीवित प्राणी की भाँति चित्र में भी एक प्रकार की चेतना होनी चाहिए। बाक़ी तो जैसे चित्रसूत्रकार कहते हैं—

अशक्यो विस्तराद्वक्तुं बहुवर्षशतैरपि ॥ अ. ४३. श्लो० ३६।

यह विषय ऐसा है कि विस्तार से कई सौ वर्षों में भी उस का वर्णन नहीं हो सकता। फिर मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥

मङ्गल्यं प्रथमं चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम् ॥ श्लो० ३८ अ० ४३ ॥

लगभग इन्हीं शब्दों में १० शताब्दियों बाद अबुलफ़ज़ल ने अकबर के विचार भी प्रकट किये हैं। अकबर के विचारानुसार चित्रकला मुक्ति और ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त करने का एक मुख्य साधन है।

चित्रसूत्र के अध्याय इतनी सरल और सुंदर भाषा में लिखे गये हैं, और हमारी प्राचीन कला के रहस्य को समझने के लिए इतने आवश्यक हैं कि मैंने विस्तार से इस ग्रंथ में से अवतरण दिये हैं। चित्रसूत्रकार ने चित्र और नृत्य का जो विशेष साम्य बताया है वह थोड़ा सा विचार करने से

समीचीन प्रतीत होगा। भारतीय नृत्य के प्रसिद्ध आचार्य उदयशंकर के नृत्य देख कर चित्रसूत्रकार की उक्ति की यथार्थता सिद्ध होती है और काव्य, चित्र, नृत्य और वैष्णव संप्रदाय का पारस्परिक संबंध तुरंत समझ में आ जाता है। नृत्य और चित्र का प्राण अभिनय और मुद्रा* में है। नेत्र, अंगुलि और पाद की भावमयी चेष्टाओं को नृत्य कहते हैं। शिल्पकार और चित्रकार का प्रधान कार्य इन्हीं चेष्टाओं को उपयुक्त स्वरूप में परिणत करने का है। इसी कारण चित्रसूत्रकार ने भी उन्हीं रसों का वर्णन किया है, जो भरत के नाट्यशास्त्र और उन के पीछे के सैकड़ों अलंकार-शास्त्रियों के ग्रंथों में वर्णित हैं। शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शांत, यही नौ चित्र-रस भी गिनाये गये हैं।

पुराने चित्रकारों के अनुपम कौशल के संबंध में प्राचीन साहित्य में अनेक उल्लेख मिलते हैं। 'उत्तररामचरित' के प्रथम अंक में राम के बनवास संबंधी अर्जुन-चित्रकारकृत चित्र देख कर सीता ऐसी विह्वल हो जाती हैं कि राम स्मरण कराते हैं कि वे जो देख रही हैं वह चित्र है, जीवन की वास्तव घटना नहीं है। जैन ग्रंथ "नायधम्मकथा" में एक मनोरंजक आख्यायिका है। मिथिलानरेश कुंभराज के पुत्र मल्लदिन्न ने अपने लिए सुन्दर चित्रशाला बनवाई। उसकी दीवारों पर एक चित्रकार ने राजकुमारी मल्लिका का केवल अंगूठा देख कर ही उस का पूरा और आबेहूब चित्र खींच दिया। राजकुमार ने जब अपनी बड़ी बहिन का चित्र चित्रशाला में देखा तब उस के मन में चित्र-कार और राजकुमारी के संबंध में संशय उत्पन्न हुआ और चित्रकार को प्राणदण्ड की आज्ञा दी। परंतु जब उसे अवगत हुआ कि भित्तिचित्र केवल चित्रकार की अनुपम कारीगरी का परिणाम है, तब उस की कूंची, रंगों की डिबिया, आदि को तोड़ फोड़ कर उसे हमेशा के लिए निर्वासित कर दिया। (पं० जेचरदास देशी कृत "भगवान महावीरनी धर्म कथाओ" पृ० २२५.

---

* हाथों और नयनों से भाव दिखाने की आधुनिक प्रथा भी पुरानी 'मुद्राओं' का एक रूपांतर ही है।

प्रकाशक, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद) ये सभी चित्र 'दर्पणे प्रतिबिम्बवत्' की श्रेणी के सादृश्यचित्र थे। पुराने उल्लेखों से इस प्रकार के चित्रों के प्रति जनसमाज की विशेष रुचि प्रतीत होती है। प्रासादों एवं चैत्यों के भित्तिचित्रों का एक रोचक वर्णन रामचन्द्रगणी कृत "कुमार-विहार-शतक" में मिलता है। गुर्जरनरेश कुमारपाल के बनाये जैनचैत्य का इस में सुन्दर वर्णन है। एक स्थान पर लिखा है कि चित्रशालाओं की दीवारें ऐसी रम्य और दर्पण ऐसी बनी हैं कि एक तरफ़ के बने हुए चित्र सामने की दीवारों पर प्रतिबिम्बित होते हैं।

यत्रालेख्यसभासु चित्ररचना सौभाग्यसंपादना—
संरंभः फलमेति शिल्पकृतिनामेकत्र भित्तौ क्वचित्।
सांमुख्यं भजतां पुनर्मणिशिलाव्यासंगरंगत्विषां
विंबोल्लासवशेन चित्रघटना भित्त्यंतराणामपि ॥९३॥

चित्रशाला के चित्रों के विषय में उल्लेख है कि:—

व्यालैर्बालान्गजेंद्रैः कपिकरभरथैर्ग्राम्यसार्थांश्चरित्रैः
श्रद्धालून्देवतानां नृपतिमृगदृशोवासवांतःपुरीभिः।
नानानाट्यैर्नटौघान् मरुदसुरभवैः संगरैर्वीरवर्गान्
एकाकिन्येव लोकांस्तरलयति मुहुर्यत्र चित्रस्य संसत् ॥११०॥

चित्रशाला में सभी श्रेणी के लोगों के मनोरंजनार्थ सामग्री उपस्थित थी। मस्त हाथियों से बालकों को; बानर, ऊँट और रथों से ग्रामीणों को; देवचरित्रालेखन से भक्तजनों को; इंद्र के अंतःपुर-वासियों के चित्रों से रानियों को; नाना प्रकार के नाटकों से नटों को; देवासुरसंग्राम से वीरों को ये चित्र आनन्दित करते थे।

बौद्ध 'जातकों' में भी चित्र-रचना के संबंध में ऐसे ही उल्लेख मिलते हैं। चित्रकला भारतीय सभ्यता का एक प्रधान अंग थी। कविता और गान की तरह उसे सर्वत्र स्थान था। किन्तु अजन्ता के प्रासाद-मन्दिरों को छोड़ कर प्राचीन भारत के भित्ति-चित्र के अवशेष प्रायः नहीं जैसे हैं।

हमारे यहां संगीत, नृत्य, शिल्प और कविता का घनिष्ट संबंध प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। कला-प्रयोग पर पुराने साहित्यकारों का किस हद तक असर हुआ है उस का एक ज्वलन्त उदाहरण चिदम्बर के नटराज-मन्दिर की दीवारों पर विद्यमान है। यह मन्दिर सन् १२४३ और १२७३ के बीच शायद राजसिंहदेव ने बनवाया था। पूर्व और पश्चिम गोपुरों की दीवारों पर भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित एक सौ आठ आसनों की प्रतिमाएँ बनी हैं और प्रत्येक प्रतिमा के नीचे उस के उपयुक्त नाट्यशास्त्र का श्लोक खुदा हुआ है। इन में से ९३ आसन और मुद्रा तो ज्यों के त्यों मिलते हैं। साठ बिलकुल भरत नाट्यशास्त्र के क्रमानुसार बने हैं। नृत्यशास्त्र के अध्ययन के लिए इन 'करणों' (हस्तपादसमायोगो नृतस्य करणं भवेत्) की प्रतिमाएँ बहुत ही महत्त्व की हैं, क्योंकि इस से साबित होता है कि प्राचीन साहित्यकारों के विधान केवल कल्पनाशक्ति के आविष्कार नहीं थे, किंतु कलाकारों की प्रत्यक्ष क्रियाओं के आधार पर बनाये गये थे। साहित्य से शिल्प और नृत्य का ऐसा मौलिक संबंध शायद ही किसी और देश की सभ्यता में रहा हो। 'गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़' में पं० रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित नाट्यशास्त्र की प्रथम जिल्द में इन नटराज मंदिरों के चित्रों का समावेश किया गया है।

संगीत, नृत्य, शिल्प, चित्र और कविता में जब ऐसी पारस्परिक घनिष्टता है, तब जिस कसौटी से कवि-प्रतिभा की परीक्षा होती है, उसी से चित्र, शिल्प और नृत्य की होनी चाहिए। फिर भी चित्र और शिल्प का स्थान कविता से निराला है। जो वस्तु चित्र और शिल्प द्वारा व्यक्त की जा सकती है, वह शब्द द्वारा पूर्णतया कभी व्यक्त नहीं हो सकती। किंतु चित्र रेखा-बद्ध काव्य तो ज़रूर है। काव्य कहने से हमारे आधुनिक श्रोताओं का मन संतुष्ट नहीं होगा। इसी कारण रस के विषय में शताब्दियों से हमारे यहाँ जो चर्चा होती आई, उसका निर्देश करना ज़रूरी है।

संस्कृत साहित्य में 'रस' जैसा शायद ही कोई और शब्द हो जिस का इतने दिनों तक विवेचन होता रहा, और अभी तक पूर्ण अर्थ निश्चित नहीं हुआ। 'रस' शब्द का मूल अर्थ तो रसनेन्द्रिय द्वारा जो स्वाद उत्पन्न होता

है वह है। मूल अर्थ से रस का साहित्यिक प्रयोग कुछ भिन्न है, और माया और ब्रह्म की तरह दर्शन का एक गहन विषय हो गया है। नाट्यशास्त्र के छठें अध्याय में भरत स्वयं ही प्रश्न करते हैं—

रस इति कः पदार्थः? आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः। यथाहि नाना-व्यंजनसंस्कृतमन्नं भुञ्जानः रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।

'रस' क्या पदार्थ है? कहा जाता है कि आस्वादन से रस की प्रतीति होती है। जैसे नानाविधि व्यंजनों के उपभोग से आस्वादन की प्रतीति होती है, वैसे ही विविध प्रकार के हृदय-गत भावों के अनुभव से रस उत्पन्न होता है। इन में से कुछ ('व्यभिचारी') भावों को जिन की संख्या भरत ३३ बताते हैं—स्थायी भाव माना गया है, जैसे रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। इन्हीं भावों का अनुसरण कर के ८ रस बताये गये हैं। भरत तो मूल में ४ ही रस मानते हैं, शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति दिखाई गई है।

भरत कहते हैं "रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" रस बिना अर्थ का उद्भव ही नहीं होता; और इस के पश्चात् उन के प्रख्यात सूत्र "तत्र विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" के अर्थ के विषय पर प्राचीन पण्डितों ने शताब्दियों तक विचार किया। इस सब दोहन का तात्पर्य इतना ही है कि रस का पूरा आस्वादन—उस का पूर्ण उपभोग रसज्ञ जन ही कर सकते हैं। इस रसज्ञ की व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त, जो काश्मीर के १० वीं शताब्दी के धुरंधर साहित्यकार हुए, इस तरह से करते हैं—

अधिकारीचात्र विमलप्रतिभाशालिहृदयः।

विमल प्रतिभा जिस के हृदय में है वही रसास्वादन का अधिकारी है, और यह गुण भी पुण्यवान् व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। उन की तुलना योगियों के साथ की गई है, और फिर उन का विस्तार से अभिनवगुप्ताचार्य इस प्रकार वर्णन करते हैं—

येषाम् काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।

तात्पर्य कि यह रसज्ञता अनुशीलन और अभ्यास से प्राप्त होती है। स्मरण रखना चाहिए कि रसज्ञता किसी भाव में तन्मय होने को—लीन होने की शक्ति है। इस शक्ति का यदि अभाव हो तो रस की प्रतीति असंभव है, जैसे बधिर को संगीत-आस्वादन अशक्य है। संक्षेप में, प्राचीन साहित्यकारों का, विशेष कर अभिनवगुप्ताचार्य और उन के बाद के आचार्यों का मन्तव्य है कि रसास्वादन एक सहृदय व्यक्ति का विशेष गुण—उस की ईश्वरदत्त प्रतिभा है। रसानुभव से जो आनन्द प्राप्त होता है उस की तुलना प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरि अपने 'काव्यानुशासन' के २ रे अध्याय में परब्रह्मस्वाद के साथ करते हैं—परब्रह्मास्वादसोदरो निमीलितनयनैः कविसहृदयैः रस्यमानः स्वसंवेदनसिद्धो रसः ।

यही रसास्वादन की परिसीमा है। श्री अरविंद घोष ने भी इसी को परमानन्द माना है। चित्रसूत्रकार विनोद में कहते हैं कि—

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः ॥
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः ॥ अ० ४१, श्लो० ११

भाव और रस का संबंध तो बीज और वृक्ष के संबंध की भाँति है।

यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥

भरत नाट्यशास्त्र, अ० ६, श्लो० ४२

इस से प्रकट होता है कि रसास्वादन के लिए अधिकार की जरूरत है। किन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जिसके रसास्वादन पर यह रस की प्रतीति अवलम्बित है उस रसज्ञ का मुख्य लक्षण क्या है। इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन साहित्यकारों ने नहीं दिया। रसज्ञता एक ईश्वरदत्त शक्ति है, कह कर संतोष माना है। अनुभव से यह सिद्ध है कि रसज्ञों की मण्डली

में सामान्य वस्तुओं से लेकर प्रायः सभी विषयों में रुचिवैचित्र्य पाया जाता है। किंतु इसका उद्देश्य यह नहीं है कि कला का मानदंड वैयक्तिक रुचियों की भिन्नता पर अवलंबित है। कला की अनुभूति सब से अधिक संबंध हृदय से रखती है। इस कारण इस के लिए बिलकुल ही निश्चित नियम तो नहीं बनाये जा सकते। इतना ही कह सकते हैं कि अनुभव से, ज्ञान से अभ्यास से, रुचिपरिशोधन से और रसास्वादन की उस नैसर्गिक प्रतिभा से जो कुछ प्रामाण्य मालूम होता है वही सुन्दर कला कही जा सकती है। सब का निचोड़ कालिदास की भाषा में कहा जा सकता है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥*

(शाकु० अध्याय ५)

इस श्लोक का अवतरण करके अभिनवगुप्ताचार्य ठीक कहते हैं कि रसानंद अनिर्वाच्य, अलौकिक, देशादि भेदों से अलिप्त और अमिथ्या है।†

टॉल्स्टॉय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ What Is Art? में बहुत विस्तार से कला के अनेक अर्थों और अंगों पर विचार किया है। उनके मतानुसार कला मनुष्य के भावों को व्यक्त करने का एक वाहन मात्र है और इस वाहन की प्रबलता का उपादान विषय की भावुकता पर अवलंबित है। कविता

---

*लखि के सुंदर वस्तु अरु मधुर गीति सुनि कोइ।
सुखिया जनहू के हिये उत्कंठा यदि होइ॥
कारन ताको जानिये सुधि प्रगटी है आय।
जन्मान्तर के सखन को जो मन रही समाय॥

(लक्ष्मणसिंहकृतानुवाद, दोहा ९१)

† देखो भरतनाट्यशास्त्र पु० १ पृ० २८१ गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़, अभिनवगुप्ताचार्य की रसचर्चा बड़ी ही गंभीर और रोचक है।

या चित्र अथवा शिल्प में यदि सर्वसुगम भावुकता न हो तो कला की दृष्टि से वह दूषित है। इसी कारण वह कला का गुण धार्मिक प्रेरणा में दिखाते हैं। इतना तो अवश्य है कि जब तक कलाकार स्वयं भाव का गंभीर आस्वादन करने के योग्य न हो तब तक उस की कृतियों में भावों का गांभीर्य उत्पन्न हो ही नहीं सकता। साथ साथ यह भी सत्य है कि कलाकार का रसानुभव और प्रेक्षक के रसास्वादन में बहुत कुछ अंतर हो सकता है। जैसे कि वैष्णव चित्रकारों की कृतियों में भक्तजनों के लिए धार्मिक-प्रसंगों का आलेखन ही प्रधान वस्तु है, और यदि चित्रकार स्वयं भक्त हुआ तो उस का भी उद्देश्य अपनी कारीगरी द्वारा धार्मिक भावों को व्यक्त करना ही होता है; परंतु वैष्णवेतर प्रेक्षकों के लिए तो भाव-व्यंजना ही प्रधान वस्तु है। रेखा-रंग से जहाँ तक कलाकार भाव-सृष्टि को सजीव करने में समर्थ हुआ है, उसी हद तक उस कला की सार्थकता है। मध्यकालीन जैन चित्रों और १७वीं, १८वीं एवं १९वीं शताब्दी के हिंदू चित्रों की तुलना कलाकारों अथवा उन के आश्रयदाताओं की धार्मिक दृष्टि से नहीं हो सकती, किंतु केवल कारीगरी को छोड़ कर जिस मात्रा में भाव-व्यंजना सफल हुई है उसी मात्रा में उस कला का महत्त्व है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण, भरतनाट्यशास्त्र तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों में रस का जो विवरण है उस से इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि भारतीय कला की गति अन्य देशों को कला-विकास से निराली नहीं है। अंतर इतना है कि हर युग में सभ्यता के विविध अंग विकसित होते हैं, और मानव-प्रयास के विविध पंथ होते हैं। इसी कारण कभी कभी हमारे पुराने साहित्य-कारों की परंपरा का अनुसरण कर के आधुनिक विद्वान भी आधाररहित भाग-विभाग बना देते हैं। परंतु उन पुराने पंडितों की सूक्ष्म-दृष्टि का दर्शन आधुनिक लेखों में क्वचित् होता है। मूलरूप में कला का उद्देश्य तो सर्वत्र ही एक सा ही होता है। मुग़ल और पहाड़ी चित्रशैली की तलना के नियम वही हैं जो संसार की किसी अन्य सभ्य एवं उन्नत कला के लिए उपयुक्त होते हैं। प्रत्येक विषय को समझने के लिए उस की परिभाषा और उस के दृष्टिकोण का

अध्ययन तो नितांत आवश्यक है। जिस दृष्टिकोण से मुग़ल राजाओं की आश्रित चित्रकला की समीक्षा की जायगी, वह १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के धार्मिक रंग से रंगे पहाड़ी चित्रों के लिए उचित नहीं होगी। किंतु किसी भी चित्र में, किसी भी शैली में, चाहे पौरस्त्य हो वा पाश्चात्य, रेखा की विशदता, आकार, विषयोचित रंगविधान, रचना, और अंतर्गत भाव-व्यंजना तो अनिवार्य है। नवीन यूरोपीय शैली के चित्रों का आधार केवल आकार और रचना पर ही अवस्थित है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्र भी उसी श्रेणी के हैं। जैसे संगीत के विषय में शब्द रचना गौण है, और स्वर-रचना ही प्रधान है, वैसे ही चित्र-विधान में भी आकार-रचना मुख्य है। प्रेक्षक-गण चित्र को देखते हुए उस का विषय पूछते हैं। यह प्रश्न ही चित्रकला के विषय में भ्रांति का द्योतक एवं सबूत है। कोई संगीतकार जब वाद्य बजाता है तब उस को स्वरसृष्टि ही स्वयंसिद्ध है उस का और कोई उद्देश्य नहीं है। अर्थात् स्वरों द्वारा जो रस-सृष्टि होती है, वही उस का उद्देश्य है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने भी अपने अनोखे चित्रों के सृजन के विषय में यही लिखा है। किसी ख़ास विषय को लेकर उन चित्रों की उत्पत्ति नहीं हुई; किंतु कवि के मानस के बहुत गहरे स्तरों में से अनजाने ही उन का उद्भव हुआ है। इसी कारण उन चित्रों का नामकरण अशक्य है। साधारण जनता के लिए चित्र का नामकरण ही पर्याप्त होता है। कृष्ण-राधा के नाम से ही प्रेक्षक के मन में एक भाव-सृष्टि होती है और चित्रास्वादन उसी दृष्टि का प्रतिबिंबरूप बनता है। परंतु जैसे शुद्ध संगीत का विषय स्वरसृष्टि है, उसी भाँति शुद्ध चित्रों का विषय रेखाकृत समीचीन भावमय आकार है। इन आकारों से किस हद तक प्रेरणा प्राप्त होती है, यह प्रेक्षकों की रसदृष्टि और समझने के अधिकार पर अवलंबित है। टॉल्स्टॉय ने बहुत ही ठीक कहा है कि जिस कला को टिप्पणी की आवश्यकता हो, उस कला में या तो कोई अपूर्ति है, या समझाने वाले को भाव की संपूर्ण उपलब्धि नहीं हुई है। इतना ज़रूर है कि टॉल्स्टॉय ने अपनी व्याख्या की सीमा बहुत संकीर्ण कर दी है। इसी वजह से शेक्सपियर, वागनर (Wagner), बिठोवन (Beethoven) जैसे

अनन्य कलाकारों की कृतियाँ उत्तम कला की गणना में उन की दृष्टि में नहीं आई। जैसे संगीतकार और संगीत सुनने वाले की रसदृष्टि एक सी होनी चाहिए, वैसे ही चित्रकार और प्रेक्षक की भाव-सृष्टि जब समान होती है तभी वह अनिर्वाच्य और अलौकिक आनंद प्राप्त होता है। हाल में प्रकाशित हुए एक अतीव सुंदर ग्रंथ An Outline for Boys and Girls में ऑक्सफर्ड के कला शिक्षक प्रो० ग्लेडो ने (R. V. Gleadowe) एक कलाकार के सुंदर शब्द अवतरित किये हैं। चित्रकला का अर्थ नृत्यालेखन है और कलाकार का उद्देश्य जैसे पंखी गाते हैं वैसे ही आलेख्य कर्म करने का है। चित्रकार को कभी कभी पार्थिव वस्तुओं का आलेखन करने की इच्छा या ज़रूरत होती है, तब चित्रसादृश्य प्रधान होता है। किसी की छबि (शबीह) बनाने के लिए चेहरे को तद्रूपता नितांत आवश्यक है। परंतु कवि और कलाकार केवल अनुकरण करने से संतुष्ट नहीं होते। वह ब्रह्मा की भाँति सदैव नए सृजन में मग्न रहते हैं। मुग़ल चित्रकारों को जब राजदरबारी विषयों को छोड़ने का अवसर मिला तब उन्हों ने भी इसी तरह की सृष्टि—इसी तरह के चित्र बनाये जैसे उन के दूसरे समकालीन या अनुगामी हिंदू चित्रकारों ने खींचे।

प्रो० ग्लेडो के मतानुसार सब से उत्तम सादृश्यचित्र चीनियों ने बनाये। प्रकृति और उस के विभिन्न रूपों से चीन-निवासियों को कुछ ऐसा प्रेम था कि उन की कृतियों में जो सजीवता पाई जाती है वह किसी और देश की कला में दृष्टिगोचर नहीं होती। साधन की प्रचुरता और वर्ण-वैचित्र्य से जो प्राप्त नहीं होता वह विशुद्ध और अनन्य प्रेम से मिलता है। इस के अनेक उदाहरण हिंदू कला में और चीन के पशुपक्षियों के और पर्वत, पृथिवी और जल के चित्रों में मिलते हैं। संक्षेप में, जैसे अर्थ-हीन शब्दों का समूह न भाषा, न साहित्य हो सकता है वैसे ही रेखा-वैचित्र्य और रंग-विधान से ही चित्र नहीं बनता। चित्रों की आत्मा तो भाव ही है।

चित्रमीमांसा का उपसंहार थोड़े ही शब्दों में कर के अब मैं इस गंभीर विषय की समाप्ति करना चाहता हूँ। रवींद्रनाथ ठाकुर के चित्रों को देख कर सामान्य प्रेक्षक प्रश्न पूछता है कि यह क्या है, क्योंकि चित्रों का नामकरण

कवि-चित्रकार ने नहीं किया। इस प्रश्न का उत्तर संगीत को परिभाषा में दिया जा सकता है। वाद्य-तंत्री के स्वर सुन कर हृदय पर जो प्रभाव होता है उसी तरह का प्रभाव रेखा-मंडल देख कर होना चाहिए। चित्र का विषय एक गौण वस्तु है। कविता का साधन जैसे शब्द है और उद्देश्य भावमय अर्थ है उसी तरह चित्रकला रेखाद्वारा व्यक्त होती है। किंतु उस का उद्देश्य कोई कहानी कहने या विषय विस्फोटन करने का नहीं है। जैसे वाद्यसंगीत का उद्देश्य स्वरों की भावसृष्टि में समाप्त होता है, वैसे ही चित्र और मूर्तिविधायक का उद्देश्य उन की रूप-रेखाओं में, उन के भाव-व्यंजक आकारों में (वागर्थाविव संपृक्तौ) संपूर्ण होता है। जैसे स्वर-सृष्टि में एक प्रकार का डोलन, कंपन और लय होना चाहिए, वैसे ही चित्र-रेखाओं में एक नैसर्गिक अंतर्भूत प्रवाह, गति और डोलन होना आवश्यक है। भावारोपण चित्र की प्रधान विशेषता नहीं होते हुए भी जहाँ जहाँ निश्चित विषय को आधारभूत बना कर चित्रकार रेखा-सृष्टि करता है वहाँ कला की सफलता के लिए यथोचित भाव निदर्शन होना चाहिए। चित्र के विषय को छोड़ कर, उस के नामकरण को त्याग कर, चित्र की रेखाओं से हृत्-तंत्री के तारों में यदि झंकार पैदा न हो तो या तो चित्र में रस नहीं, या प्रेक्षक में रसज्ञता का अभाव है। जैसे मीरा के छंद केवल कोमल शब्दों का समुदाय अथवा ललित पदावलियों का चमत्कार नहीं हैं, गेयता और शब्द-लालित्य सिर्फ़ वाहन-मात्र गौण वस्तुएँ हैं। मीरा का हृदय इन शब्दों द्वारा अपना दर्द और भक्ति का भान पाठक को यदि न करा सके तो उस में मीरा का दोष नहीं; पाठक की रस-हीनता ही उस के लिए उत्तरदायी है। चित्रों में, जैसे 'चित्रसूत्र' में ऊपर कहा गया है, रंग-विधान आभूषण रूप है। वह प्रधान वस्तु नहीं है। उन की खूबी तो चित्रकार की उँगलियों से बहती हुई, डोलती हुई, उमड़ती हुई, सजीव वेगवती, रेखाओं में है। उस का आस्वादन, जैसे कविता हमेशा सर्व-सुगम नहीं है, वैसे ही सर्वभोग्य नहीं पाया जाता है। उस के लिए, जैसा अभिनव गुप्ताचार्य ने लिखा है, कुछ सहज संस्कार और कुछ अभ्यास की आवश्यकता है।

इस प्रसंग में भारतीय अथवा एशिया की चित्रकला की एक विशेषता भी उल्लेखनीय है। हमारे नवशिक्षित प्रेक्षकों को भारतीय चित्रों में गहराई (Perspective) दिखाने की आधुनिक यूरोपीय प्रथा का अभाव एवं अज्ञान खटकता है। गहराई दिखाने की प्रथा का इटेली में प्रथम १४ वीं शताब्दी के अंत में सूत्रपात हुआ। उस का उद्देश्य केवल यही था कि जैसे रंगभूमि में प्रेक्षक नाट्यप्रयोग देखता है, वैसे ही चित्र-रचना भी प्रेक्षक के एक निश्चित—बराबर सामने के दृष्टिकोण से होना चाहिए। चित्रों में छाया-प्रयोग से गहराई दिखाने की रीति यूरोपीय देशों में प्रचलित हुई। थोड़े वर्षों से इस पर आधुनिक पाश्चात्य चित्रकारों ने ज़ोर देना छोड़ दिया है, क्योंकि भौतिकशास्त्र का एक बहुत साधारण नियम है कि किसी एक दृष्टिकोण से एक वैज्ञानिक दृष्टि से ही, निश्चित चित्र-विधान करना किसी भी चित्रकार के लिए क़रीब क़रीब असंभव है और चित्रकार का उद्देश्य भी तो किसी दृश्य का वैज्ञानिक और तद्रूप चित्र खींचने का नहीं है। चित्रकार के लिए चित्र-रचना तो कल्पना-सृष्टि का—मानस-सृष्टि का—एक भावमय आविष्कार है। वैज्ञानिक वास्तविकता की जहाँ इतिश्री होती है वहीं तो कला का श्रीगणेश होता है। कला और विज्ञान के नियम एवं उद्देश्य विभिन्न हैं। इसीलिए गहराई दिखाने के व्यर्थ प्रयास के चक्कर में आधुनिक चित्रकार नहीं फँसते। वास्तव में किसी सामान्य 'कैमरा' से एक निश्चित दृष्टिकोण से तद्रूप चित्र बहुत ही सहज में बन सकता है। इस के लिए कलाकार के अस्तित्व की ही आवश्यकता नहीं। भारतीय एवं एशिया के अन्य देशों में चित्रकला में गहराई दिखाने की एक दूसरी ही प्रथा का अवलम्बन किया गया है। भारतीय चित्रकार अपनी कृति में यथासंभव विस्तारपूर्वक कथन करना चाहता है। इस कारण एक ही चित्र में वह अनेक दृष्टि-बिन्दु लेकर चित्र-रचना करता है। यूरोपीय प्रथा के अनुसार यदि वह काम करता तो एक चित्र के स्थान पर उस को अनेक बनाने पड़ते। मुग़ल दरबार के चित्रों और पहाड़ी कला की तस्वीरों में भी यह एक दर्शनीय वस्तु है कि चित्रकार कभी कभी घर के बाहर एवं भीतर का दृश्य भी एक साथ दिखाता है। प्रेक्षक का दृष्टि-बिन्दु चित्र की यथार्थता समझने

के लिए घूमना चाहिए। कभी एक कोण से, कभी दूसरे से—जैसे प्रेक्षक रंगभूमि का नाट्य-प्रयोग सामने से देखता है, कभी ऊपर से, कभी बगल से, संक्षेप में अनेक दृष्टि कोणों से भारतीय एवं एशिया के अन्य देशों की चित्रकला देखी जाती है। पाश्चात्य और पौरस्त्य कलाकारों का एक ही उद्देश्य था। केवल साधन-प्रणाली भिन्न रही। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि भारतीय चित्र आकार में छोटे होते हैं और पुस्तक के पृष्ठों की भाँति मुरक्के—पुस्तिका—की जिल्द में बँधे रहते हैं। इन को देखने के लिए पाश्चात्य तैल-चित्रों की तरह बहुत दूर से देखने की आवश्यकता नहीं। इस लिये गहराई दिखाने की पाश्चात्य प्रथा को ऐसे छोटे चित्रों में स्थान भी नहीं था। विभिन्न परंपराओं के अनुसरण में गुणदोष का सवाल उपस्थित नहीं होता, क्योंकि कला की कसौटी उस की सजीवता पर अवलंबित है। यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि गहराई दिखाने की प्रथा स्थापत्य के संबंध में पाश्चात्य और प्राच्य देशों में एक ही रही। हमारे प्राचीन मंदिरों एवं प्रासादों के स्थपतियों की कृतियों में उसी विश्वव्यापी प्रथा का अनुसरण किया गया है जिसे पाश्चात्य देशों में चित्रकारों ने बड़े बड़े तैल-चित्रपटों के लिए अपनाया। जिस प्रकार तैल-चित्रों से अनेक कारणों से भारतीय चित्रकारों एवं उन के आश्रय-दाताओं की अरुचि रही, उसी तरह गहराई दिखाने की पाश्चात्य रीति भारतवर्ष के कलाकारों को रुचिकर नहीं हुई। "भिन्नरुचिर्हिलोकः"।

कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय चित्र की यथार्थता समझने के लिए प्रेक्षक को अपना दृष्टिकोण हरदम बदलने की जरूरत रहती है। चित्र के ऊपरी भाग में जो वस्तु है वह प्रेक्षक से सब से दूरवर्त्ती है। कभी कभी वह बिलकुल ऊपर होती है, जैसे जयपुर के पोथीख़ाने के अतीव सुंदर रासलीला के चित्र में आकाश से विमान में बैठे हुए देवतागण पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। इन देवतागणों का स्थान चित्र के मध्यवर्त्ती श्री कृष्ण और गोपिकाओं के ठीक ऊपर है। चित्रकारी के लिए संस्कृत में कभी कभी आलेखन शब्द प्रयुक्त होता है, क्योंकि चित्रकला भी एक प्रकार की लेखनकला थी। पहाड़ी चित्रकार माणकू अथवा माणक भी 'चित्र लिखा' कहता है। ईरानी मुसव्वरों

ने अनेक चित्रों पर अपने को 'राकिम' (लिखने वाला) करके हस्ताक्षर किये हैं। चीन और जापान की कला में तो लेखन और चित्र एक अभिन्न वस्तु है। दोनों काम—लिखना और आलेखन—एक ही कूची से और एक ही प्रकार से किये जाते थे। भारतीय चित्र रंगरंजित रेखाकृतियाँ हैं। रेखा ही प्रधान वस्तु है। पाश्चात्य चित्रकला में इस से बिलकुल ही दूसरी परम्परा है। परंतु शब्दकोश और व्याकरण विभिन्न होते हुए भी सब भाषाओं का उद्देश्य तो एक ही है। चित्रकला की परम्पराएँ अनेक हैं। परंतु उन सबों की अंतिम कसौटी तो रसदृष्टि ही है।

साथ ही चित्रकला के अध्ययन में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आधुनिक दृष्टि में जिस को कलाकार कहते हैं उस की उत्पत्ति बहुत ही अर्वाचीन है। संसारभर में चित्रकार प्रायः एक कारीगर था। वह अपनी प्रेरणा के अनुसार बहुत ही कम काम करता था। उस की कला—उस की कारीगरी उस के लिए आजीविका प्राप्त करने की प्रधान वस्तु थी। उस की कृति के विषय आश्रयदाताओं द्वारा निर्माण होते थे। धार्मिक सम्प्रदायों के उत्कर्ष के लिए, सम्पन्न व्यक्तियों के यशोगान करने के वास्ते चित्रकार प्रायः अपना जीवन बिताता था। फिर भी इन चित्रों में प्रतिभा का जो निदर्शन हुआ वह चित्रकार का—मनुष्य की ईश्वरदत्त शक्ति का आविष्कार था। चित्रकार की केवल व्यक्तिगत कला का अनोखा, अद्वितीय प्रदर्शन उन के समृद्ध मुरब्बियों को कदापि उद्दिष्ट नहीं था। राजाओं ने जैसे संगीतकार अपने आमोद प्रमोद के लिए रक्खे, उसी प्रकार कलाकारों को भी अपने यशोगान के लिए आश्रय दिया। कवि का स्थान इन सबों से हमेशा ऊँचा रहा। इसी कारण कल्पना-सृष्टि में उन की उड़ान गहरी और चिरकाल तक रही। संगीतकार, नृत्यकार, चित्रकार, केवल 'कारख़ानों' के कारीगर थे। सर टॉमस रो ने लिखा है कि मुग़लों के छत्तीस 'कारख़ाने-जात' में से चित्रकारों का भी एक विभाग था। सेवकों के साथ जैसे भारतीय सेव्यगण पेश आते हैं वैसे ही इन गरीबों के साथ भी बर्त्ताव रहा। इसी कारण हमारे शिल्पियों एवं चित्रकारों की कला-सृष्टि प्रायः अनामिका रही। साधारण दृष्टि में शिल्प और

चित्र के सौन्दर्योपासक उन के लिए धन व्यय करने वाले व्यक्ति थे। अन्यथा कलाकार का कोई ख़ास अस्तित्व ही नहीं था। चित्रकार एवं कलाकार श्रमजीवियों में से कुछ उच्च श्रेणी के ही कारीगर थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी इन ग़रीबों की गणना निम्न-सेवकों में ही की है। संगीत, नृत्य और चित्र मनोरंजन की सामग्री थीं। मुग़ल बादशाहों के लिए यह एक अतीव गौरव की बात है कि उन्हों ने, विशेष कर अकबर और जहाँगीर ने, कलाकारों का यथोचित आदर किया, और बहुधा, कभी कभी प्रति सप्ताह, उन की कृतियाँ देख कर राजोचित प्रसन्नता एवं औदार्य का परिचय दिया। कला की ही दृष्टि से चित्र-परीक्षा एक आधुनिक व्यसन है। पुराने चित्रकारों के लिए तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं था। उन का काम तो केवल अपने स्वामी की आज्ञा पालन करने का ही था और उन के प्रयासों की सार्थकता भी उसी में हुई, क्योंकि उन के सामने जो समस्याएँ थीं, उन को जो काम दिया गया था, उन को सुलझाने में और उस कार्य को पूर्ण करने में ही उन्हों ने अपनी कुल शक्ति का उपयोग किया और उस में उन को केवल अपने कर्त्तव्य का ही भान रहा। अपनी कृतियों से उन में अपने कलात्मक विचारों को स्थान देकर—यशः-प्राप्ति का ख़्याल तक उन को नहीं था। सभ्य जगत की प्राचीन कलाओं की गरिमा, उन की भावुकता, अद्भुत विशदता, इसी परम्परा पर अवलंबित रही। इस में कोरे वक्तव्य के लिए स्थान ही न था। स्थपति, शिल्पी, चित्रकार सभी एक महान् प्रयास की परिपूर्त्ति के साधन-मात्र थे; एक विराट वृक्ष के अलग अलग पत्ते थे; एक ही शृङ्खला में जुड़ी हुई अलग अलग कड़ियाँ थीं; एक बड़ी सेना के केवल सैनिक थे। उन का कर्त्तव्य और अस्तित्व समष्टि के हितार्थ था। इस का ज्वलन्त उदाहरण अजंता के गुफा-मंदिरों में मौजूद है। स्थापत्य, शिल्प और चित्र-कला का विश्वभर का यह एक अद्भुत और अनन्य समन्वय है। इन अज्ञात कलाकारों के अद्वितीय रचना-कौशल से भारतीय सभ्यता का अद्भुत और अभूतपूर्व विकास हुआ। चीन और जापान एवं अन्य देशों में भी इस का अनुकरण हुआ, क्योंकि इन कृतियों की प्रेरणा व्यक्ति-गत नहीं थी वरन् कर्त्तव्य गत थी।

प्राचीन चित्र-परंपरा

भारतीय चित्रकला का अध्ययन बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही शुरू हुआ। प्रजा का जब उत्थान काल समाप्त होता है तब उस की स्मरण-शक्ति का भी कुछ अंश में ह्रास होता है। किसी कारण से भारतीय सभ्यता का आधुनिक इतिहास भी क़रीब क़रीब विस्मृत सा हो गया। ऐसा न होता तो पंजाब में, राजस्थान में और दक्षिण भारत में जो कला १९ वीं शताब्दी के मध्य तक वर्तमान रही उस का बिलकुल ही विस्मरण कैसे हो जाता ? भारत की कला का इतिहास भी परंपरानुगत है। जैसे चीन की सभ्यता के विषय में पहले यूरोपीय जनता का मनोभाव अवगणना से शुरू हो कर सच्ची गुण-परीक्षा तक पहुँचा उसी तरह भारतीय स्थापत्य, शिल्प और चित्र-कला के संबंध में भी यूरोपीय विद्वानों की विचार परंपरा रही। रस्किन ने हमारे शिल्प के विषय में यही कह कर संतोष माना कि जब प्रजा की बुद्धि भ्रष्ट होती है तब कला का कैसा विनाश और भयंकर परिवर्तन होता है, उस का प्रत्यक्ष नमूना भारतीय शिल्प में प्राप्त होता है। परंतु यह ज़माना पाश्चात्य विद्वानों के विषय में तो चला गया। प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कलामर्मज्ञ रॉजर फ्राइ (Rojer Fry) के मतानुसार भारतीय कला दुनिया की अतीव मौलिक कलाओं में से है। (देखो पृष्ठ 939 Outline of Modern Knowledge, 1932) किंतु भारतीय जनता में कलात्मक ज्ञान अभी तक इतना कम है, अथवा उन की रस-दृष्टि का ऐसा ह्रास हो चुका है कि उन में धार्मिक दृष्टि को छोड़ कर नृत्य, शिल्प और चित्र की यथोचित तुलना करने का सामर्थ्य नहीं सा मालूम होता है। यूरोपीय सभ्यता का ऊपरी प्रभाव कुछ ऐसा जमा हुआ है कि यूरोप में जो

इस समय अपवाद रूप है अथवा जिस की कोई विशेष क़द्र नहीं है उसी को धूरीण मान कर अपने यहाँ के स्थापत्य, चित्र और शिल्प की तुलना की जाती है। सच्ची बात यह है कि हर सभ्यता में व्यक्तिगत विशेषता अवश्य होते हुए भी उस में विश्वव्यापी समानता का अंश अथवा उद्देश्य की एकता अधिकतर होती है। अभी तक यही मान्यता चली आती है कि कला के भी ख़ास विभाग हैं, जैसे पाश्चात्य और पौरस्त्य। साथ साथ यह भी माना जाता है कि इन दोनों कलाओं के आदर्श, रचना-रीति, परीक्षा इन सबों के नियम भिन्न हैं। इन दोनों भूगोलगत विभागों की कला को समझने के लिए दूसरा ही मानस होने की आवश्यकता समझी जाती है। वास्तव में कला का इतिहास एक तरह से मानव-सभ्यता का प्रवाह है। उस की दिशा और उद्देश्य एक ही है। जैसे विविध भाषाओं द्वारा विचार प्रकट होते हैं, वैसे ही अनेक साधनों द्वारा प्रजा के कलात्मक विचार पल्लवित होते हैं। यूनान और भारत की कला के आदर्शों में, उद्देश्य में कुछ विभिन्नता ज़रूर है, उन के उपकरणों में भी भेद है, परंतु रसदृष्टि की परीक्षा में तो एक ही कसौटी होती है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय इतिहास में अनेक जातियों का, अनेक सभ्यताओं का सम्मिलन हुआ है। इसी कारण भारत की कला में क़रीब क़रीब दुनिया की सब कलाओं के नमूने मिलते हैं। मुग़ल कला की तुलना १५ वीं से १९ वीं शताब्दी तक की यूरोपीय कला से हो सकती है। क्योंकि दोनों के आदर्श एक थे। साधन की विभिन्नता होते हुए भी दोनों कलाओं में घनिष्ट संबंध है। किंतु १८वीं और १९वीं शताब्दी की हिंदू चित्रकला १५वीं शताब्दी की पहले की क्रिश्चियन कला से ज्यादा संबंध रखती है। क्योंकि दोनों का मानस एक था। मुग़ल और पाश्चात्य कला में सांसारिक विभूतियों को प्रधान स्थान था। संसार का वैभव, विलास, दरबार की शानोशौकत, बादशाहों के शिकार, उन की प्रेम-क्रीड़ाएँ, उन का संत-साधुओं से मिलन—संक्षेप में दुनिया की बाह्य-लीलाओं से मुग़ल कला का असली संबंध था। साधन की प्रचुरता, दरबार का आश्रय, भारतवर्ष का वैभव, इन सबों से यह कला ओत-प्रोत थी। इस में दीन-जनों की आह को, सामान्य जीवन की प्रेरणा को,

धार्मिक विचारों को, व्यक्तिगत आवेशों को कम स्थान था। राज-दरबारों में ही मुग़ल कला का उद्भव हुआ, उस का विकास हुआ, और आश्रयदाता के पतन के साथ उसका विलय भी हुआ। मानव-जीवन के प्रेरणात्मक—आध्यात्मिक अंगों से उस का बहुत ही कम संबंध था। कभी कभी बादशाह लोग और उन के दरबारी दुनिया के प्रपंच से ऊब कर साधु-संतों की कुटी में विश्राम के लिए जाते थे। तब दरबारी चित्रकारों को एक नवीन प्रसङ्ग आलेखन के लिए मिल जाता था। इन चित्रों से १८वीं और १९वीं शताब्दी के पहाड़ी चित्रों का घनिष्ट संबंध था। तात्पर्य केवल इतना ही है कि कला-रूपी वृक्ष का विकास प्राय: उसके अनुकूल भूमि और वातावरण पर अवलम्बित है। मुग़ल-कला भारतीय कला का अवश्य एक अनोखा प्रकरण था, किंतु भारतीय सभ्यता में वह अपवाद रूप है—यह कहना भारतीय इतिहास की प्राचीन एवं वास्तविक परंपरा के विरुद्ध हैं। ईसा की प्रथम दो शताब्दियों में कुशान राजाओं के समय में जो शिल्प-विधान हुआ वह उतना ही भारतीय है जितना कि मुग़ल चित्र-विधान।

भारत में चित्रकला का इतिहास बहुत ही प्राचीन है, क्योंकि अभी तक मध्यप्रदेश की अनेक गुफ़ाओं में प्राग्-ऐतिहासिक लोगों के बनाये हुये चित्र मिलते हैं। सरगुजा रियासत में कई जगह ऐसे चित्र प्राप्त हुए हैं। दोनों में एक प्रकार का स्वभाव-जन्य साम्य है। इसी से इन चित्रों में—सभ्यता के आरम्भ काल में जो एक प्रकार की एकता मिलती है वह सभ्यता के अंग कुछ विकसित होने के बाद फिर उपलब्ध नहीं होती। इन चित्रों की निरी सरलता प्रेक्षक को मुग्ध किये बिना नहीं रहती, क्योंकि कला का प्रधान गुण, प्राण और चेतना—प्राकृतिक उल्लास—उसमें अधिक मात्रा में भरा हुआ है।

सरगुजा रियासत की रामगढ़ की पहाड़ियों की जोगीमारा गुफ़ा में जो चित्र हैं उनका अब नामावशेष मात्र रह गया है। मिरज़ापुर ज़िले में भी कई गुफ़ाओं में प्राग्ऐतिहासिक चित्र प्राय: जंगली जानवरों और आखेट के विषय के मिलते हैं। गेंडा जैसा जानवर भी, जिसका अब हिन्दुस्तान में

अस्तित्व नहीं है, उन गुफ़ाओं की दीवारों पर अंकित है। ऐसे चित्र मध्यप्रान्त की रामगढ़ रियासत की दीवारों पर खुदे हुए मिलते हैं। विषय और चित्र शैली एक सी है। प्राकृत पुरुष के पराक्रम और सिद्ध उद्देश्य के आनन्द के ये सांकेतिक एवं लाक्षणिक नमूने हैं। वेग और उल्लास इन चित्रों के प्रधान गुण हैं। इनकी परिभाषा विश्व-विस्तृत है, क्योंकि प्रकृत जन सभ्य जनता की बेड़ियों से मुक्त हैं।

इन चित्रों की शैली वही है जो दुनिया के और देशों में उस वक्त के चित्रों की थी। स्पेन, मेक्सिको, इंगलैंड, इटेली, क्रीट, जहाँ जहाँ ऐसे प्राग्-ऐतिहासिक चित्र मिले हैं वह सभी एक ही प्रकार के हैं। क्योंकि वे चित्र लोगों के आन्तरिक उल्लास एवं आवेश के द्योतक थे। वह उल्लास कभी नृत्य और कभी आलेखन द्वारा प्रकट होता था। ऐतिहासिक युग के चित्र हमारे पास पुराने नहीं हैं। मिश्र देश के चित्रों की अपेक्षा हमारे प्रथम शताब्दी के अजंता के भित्ति-चित्र अर्वाचीन से हैं। संस्कृत साहित्य में पुरातन काल से चित्रों का उल्लेख प्रायः सभी ग्रंथों में मिलता है, परन्तु भित्ति-चित्रों को छोड़ कर और चित्रों के अवशेष कुछ भी नहीं बचे। १० वीं शताब्दी के पूर्व का कपड़े पर या ताड़पत्र पर लिखा हुआ कोई भी चित्र नहीं मिलता। जो कुछ अवशेष मिलते हैं वह भारतवर्ष के प्रान्तीय-प्रदेशों में मिलते हैं। सर ऑरेल स्टाइन (Sir Aurel Stein) ने ८ वीं और १० वीं शताब्दी के कई सहस्र चित्र चीनी तुर्किस्तान की मरुभूमि से प्राप्त किए हैं। उन में हमारे अनेक देवी देवताओं के, ब्राह्मणों के, और दैत्यों के चित्र मिलते हैं। उन चित्रों की शैली मिश्र है। चीन, हिन्दुस्तान और यूनान की शैलियों का वहाँ सम्मिश्रण है। मिट्टी की भी रंगी हुई प्रतिमाएँ मिलती हैं। मशहूर जर्मन पुरातत्व वेत्ता स्वर्ग-गत प्रो० लॅकॉक (Le Coq) ने भी मानी (Mani) के मतानुयायियों के बनाए हुए कई भित्ति-चित्र ईरान से और अन्य सीमान्त-प्रदेशों से प्राप्त किये हैं। कुछ चित्र कपड़ों पर भी मिले हैं, जिन में हिन्दुस्तान के ब्राह्मणों, देव देवियों और जैन अर्हतों का आलेखन है। इसी चित्रकला के आधार पर १४ वीं और १५ वीं शताब्दी

में ईरान की अद्भुत कला का विकास हुआ। हिन्दुस्तान में श्रीहर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद मुगलों के आने तक कोई साम्राज्य स्थापित हुआ ही नहीं था, ७ वीं शताब्दी के मध्यकाल से जो साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया वह फिर जलालुद्दीन अकबर के समय में ही पुनः संगठित हुआ। इस मध्यकालीन कला के कई अवशेष बचे हुए हैं। ८ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुट्टनीमतम्' के कर्त्ता काश्मीर-अमात्य दामोदरगुप्त ने हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद जो अवनति हुई उस का निम्नलिखित आर्याओं में वर्णन किया है—

> वयमपि देवनिकेतनमनङ्गहर्षे गते त्रिदिवलोकम्।
> आश्रितवन्तो गत्वा तीर्थस्थानानुरोधेन ॥ ८०० ॥
> स उवाच ततो 'वणिजो नेतारो यत्र, यत्र पात्राणि।
> शाठ्यायतनं दास्यस्तत्र कुतः सौष्ठवं नाट्ये ॥ ७९४ ॥

नृत्याचार्य वाराणसी में अपने आने का कारण बताते हुए कहते हैं कि श्री अनंगहर्ष के देवपद प्राप्त करने के बाद कलाओं की दशा निकृष्ट बनी है, क्योंकि श्रेष्ठिजन जहाँ नेता हैं और वेश्यागण कपट प्रपंच में पड़ी हुई हैं वहाँ नाट्य सौष्ठव के लिए स्थान कैसे हो सकता है? आजीविकार्थ ही उनको काशी के विश्वनाथ मंदिर का आश्रय लेना पड़ा है। मालूम होता है कि श्री हर्षवर्द्धन के साम्राज्य के नष्ट होते ही दरबारों का आश्रय कला-विदों के लिए कम हो गया, और इसी कारण दामोदर गुप्त लिखते हैं कि राज-जनों की जगह वैश्य-वृत्ति वाले धनिकों ने ली है। ऐसी अवस्था में संगीत और कला का विनिपात होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी वैश्य-वृत्ति के नमूने प्रायः जैन और गुर्जर चित्रकला में मिलते हैं।

अजंता, बाघ, पुद्दूकोटा रियासत में सित्तन्नवासल, तंजौर कांची, एल्लौरा वा वेरुल के मंदिरों में अनेक भित्ति-चित्र अभी तक वर्तमान हैं। किंतु राज दरबारों में जो छोटे मोटे चित्रपट बनाए जाते थे और जिन का सुंदर वर्णन 'उत्तररामचरित के प्रथम अंक में मिलता है—उन का कोई नमूना १४ वीं शताब्दी के पहले का नहीं मिलता। पाटन के जैन भंडारों में ११ वीं शताब्दी के चित्रित कुछ ताड़-पत्र हैं। १५ वीं शताब्दी के तो कई चित्रपट मिलते हैं। चित्रित काग़ज़ पर

लिखे हुए भी उस समय के कई ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। परंतु इस शैली का पूरा विकास अकबर के समय में हुआ। भित्ति-चित्रों की भी परंपरा मुग़लों के ज़माने तक—१८ वीं शताब्दी के अंत तक क़ायम रही। इस प्राचीन प्रणाली के साक्षीरूप उदाहरण पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपने ग्रामगीतों के सरस संग्रह में दिये हैं। उन्हीं ने नीचे उद्धृत किये हुए गीतों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया है—

द्वारेन द्वारे बरुआ फिरैं बखरी पूछैं बबा की हो।
द्वारेन उनके हैं कुइँया भीती चित्र उरेही हो॥
आँगन तुलसी क बिरवा बेदवन झनकारी है हो।
सभवन बैठे बाबा तुम्हरे बैठे पुरवैं जनेउवा हो॥

"ब्रह्मचारी द्वार द्वार फिर रहा है और बाबा का घर पूछ रहा है। कोई उस को पता बता रहा है कि उन के द्वार पर कुँवा है। दीवार पर चित्र अंकित हैं। उन के आँगन में तुलसी का वृक्ष है। वेद-ध्वनि हो रही है। सभा में बैठे हुए तुम्हारे बाबा जनेऊ बना रहे हैं।" ("ग्रामगीत", पृष्ठ ११७)

उँच उँच कोठवाँ उठइहा मोर बाबा हो बिच बिच झंझरी लगाइ।
बियहन अइहें बाबा तिन लोक राजा हो रहिहैं झँझरिया लोभाइ हे॥१॥
सब कोइ देखेल बाग बगइचा देखेल फूल फुलवारि हो।
रामचन्द्र देखेलें बाबा के झँझरी के अइसन झँझरी उरेह हे॥२॥
दान दहेज सासु कुछ नाहीं लेबों हो ना लेबों चढ़ने के घोड़ हे।
जउन तिवइया यहि झँझरी उरेहले तिन्हकाँ मैं संग लइ जाव हो॥३॥
दान दहेज बाबू सब कुछ देबों हो देबों मैं चढ़ने के घोड़ हे।
बेटी सीता देई झंझरी उरेहलीं तिन्हहूँ क संग लइ जाहु हो॥४॥

"हे बाबा! ऊँचे ऊँचे कोठे बनवाना, और बीच बीच में खिड़की लगवाना। तीन लोक के मालिक विवाह करने आवेंगे। वे खिड़की देखकर लुभा जायँगे॥ १॥

बारात के लोग बाग़-बग़ीचा और फूल-फुलवाड़ी देख रहे हैं। पर रामचन्द्र बाबा की खिड़की देख रहे हैं और मोहित हो रहे हैं कि ऐसी खिड़की पर चित्र किसने बनाये हैं?॥ २॥

रामचन्द्र ने कहा—हे सास ! मैं न दान लूँगा, न दहेज । न चढ़ने के लिये घोड़ा ही लूँगा । जिस ने इस खिड़की पर चित्र बनाये हैं, उसे मैं साथ ले जाऊँगा ॥ ३ ॥

सास ने कहा—हे बेटा ! दान-दहेज भी मैं दूँगी और चढ़ने को घोड़ा भी दूँगी । सीता बेटी ने यह चित्र बनाये हैं, उसे भी दूँगी । उसे अपने साथ ले जाओ ॥ ४ ॥" (पृष्ठ १५७)

बाजत आवै ककरहिली के बाजन घुमरत आवै निसान ।
राम लखन दूनौं पूछत आवैं कौन जनक दरवाज ॥१॥
जनक दुवारे चनन बड़ रुखवा हथिनी बाँधी सब साठ ।
भितिया तौ उनके रे चित्र उरेहे उहै जनक दरवाज ॥२॥
भितराँ से निकरी हैं जनक कहारिन हाथे घइला मुख पान रे ।
पनिया भरउँ मैं सब के रे रजवा बतिया न कहहुँ तुम्हारि ॥३॥
मैं तुम से पूछौं जनक कहारिन किन यह चित्र उरेहु ।
जवनी सीतल देई क ब्याहन आयो तिन यह चित्र उरेहु ॥४॥
उठहु न दादुलि उठहु न राजा उठहु न कुँवर कँधाइ ।
ऐसी सितल देई क हमना सो ब्याहउ करहिं बरइली क कारु ॥५॥

"ककरहिली (?) का बाजा बाजता आ रहा है । झूमता हुआ झण्डा आ रहा है । राम लक्ष्मण दोनों पूछते आ रहे हैं कि जनक का द्वार कौन सा है ? ॥ १ ॥

जनक के दरवाज़े पर चन्दन का बड़ा वृक्ष है । साठ हथिनियाँ बँधी हैं । दीवारों पर चित्र अंकित हैं । वही जनक का द्वार है ॥ २ ॥

भीतर से जनक की कहारिन निकली, जिस के हाथ में घड़ा और मुँह में पान है । वह कहती है—मैं इस राज में कई पीढ़ी से पानी भरती आ रही हूँ । पर मैं इस घर की बात कभी किसी से कहती नहीं ॥ ३ ॥

राम ने पूछा—हे जनक की कहारिन ! मैं तुम से पूछता हूँ कि यह चित्र किस ने लिखा है ? कहारिन ने कहा—जिस सीता देवी को तुम ब्याहने आये हो, उसी ने यह चित्र लिखा है ॥ ४ ॥

राम कहते हैं—हे पिता ! उठो ! हे राजा ! उठो । हे कुँवर कन्हैया ! उठो । ऐसी सीता का विवाह मुझ से करो ॥५॥" (पृष्ठ २०८)

फतेहपुर सीकरी के सुंदर प्रासादों में पुराने भित्ति-चित्रों के अभी तक कुछ अवशेष बचे हुए हैं। महाराजा रणजीतसिंह ने भी लाहौर के क़िले में अपने शीशमहल में सुंदर भित्ति-चित्र बनवाए थे, जिन को श्री रूपकृष्ण ने 'रूपम्' के नं० २७-२८ में प्रकाशित किया है। सब से सुंदर चित्र तो सावन झूले का है। बसंत का भी रमणीय आलेखन है। अर्थात् प्राचीन हिंदू कला के विनाश को अभी पूरे १०० वर्ष भी नहीं हुए। काशी नरेश के रामनगर प्रासाद में भी आधुनिक शैली के, किंतु नीरस भित्ति-चित्र बने हुए हैं। कहा जाता है कि आगरा और दिल्ली के क़िलों में दीवाने-आम और दीवाने-ख़ास की दीवारों और अकबर के सिकंदरा के मक़बरे की दीवारों पर भी अनेक चित्र सुशोभित थे। आजकल अस्पृश्यता निवारण संबंध में प्रसिद्ध हुए गुरुवायूर के ईस्वी सन् १७४७ में बने हुए कृष्ण मंदिर की दीवारों पर श्रीमद्भागवत के अनेक चित्र बने हुए हैं। मुग़ल प्रासादों और मक़बरों के चित्रों के विषय महाभारत, रामायण और बाइबिल से लिए गए हैं। उन का विस्तृत विवरण १६ वीं शताब्दी के अंत के और १७ वीं शताब्दी के प्रारंभ के अंग्रेज़ यात्रियों के वर्णन में मिलता है। औरंगज़ेब की इस्लामी दृष्टि ने इन सब चित्रों को सफ़ेदी से पुतवा कर उन पर धार्मिक पलास्टर चढ़वा दिया। संभव है कि भविष्य में कभी १६ वीं और १७ वीं शताब्दी के इन भित्ति-चित्रों के दर्शन होवें, जैसे इस्फ़हान में सफ़वी बादशाहों के बनवाये हुए, ख़ास कर के जहाँगीर के समकालीन शाह अब्बास के ज़माने के भित्ति-चित्रों का अब दर्शन हुआ है। मैसूर के टीपू सुल्तान के श्रीरंगपट्टन के सुघड़ और सादे उद्यान-भवन की दीवारों पर उन की अंग्रेज़ों के साथ की लड़ाइयों के कई चित्र बने हैं। इन चित्रों का ऐतिहासिक दृष्टि से रसदृष्टि की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। टीपू सुल्तान की उदारवृत्ति के भी ये चित्र साक्षी हैं, क्योंकि साधारण ऐतिहासिक ग्रंथों में टीपू अति अमानुष और धर्मान्ध व्यक्ति दिखाया जाता है। मरहटों के लांगोर के प्रासाद में भी दो एक अच्छे १८ वीं शताब्दी के भित्ति-

चित्र बचे हुए हैं। कलाओं के प्रति मुग़ल बादशाहों का विशेष अनुराग रहा। परन्तु मुग़लों से पहले के बादशाहों के ज़माने के चित्र कुछ भी नहीं मिलते, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। पुरानी पठान राजधानी माँडवगढ़ में, जो धारा नगरी से २३ मील की दूरी पर है, 'गदाशाह का मकान' नामक एक टूटा फूटा खंडहर पड़ा हुआ है। एक दीवार पर मेदिनीराय (१५१०-२६) और उस की पत्नी के चित्र अभी तक विद्यमान हैं।* मैंने दिसंबर में (स० १९३२) माण्डू जब देखा तब चित्रों के निशान ही सिर्फ दिखाई पड़े। इमारत बिल्कुल ही खंडहर है। संभव है कि मुग़लों के पहले के बादशाहों का प्रेम स्थापत्य से विशेष रहा हो। किंतु मध्यकालीन चित्रों का अभाव तो समय की प्रतिकूलता से ही मालूम होता है, क्योंकि अकबर के ज़माने में मुग़ल चित्रकला ने शैशवावस्था से धीरे धीरे विकास नहीं किया। परंतु जो चित्रकार देश में मौजूद थे उन को एक तरह की नई प्रेरणा, नये साधन, नया शौक दिला कर एक नई ही बलवती कला का जन्म हुआ। छोटे मध्यकालीन चित्र प्रायः जैन ग्रंथों में मिलते हैं। जैनसंघ से लक्ष्मी का कुछ पुरातन काल से संबंध चला आता है। इसी कारण से सहस्रों ग्रंथ जैन श्रावकों ने लिखवाये, चित्रों से सुशोभित करवाये और सुरक्षित भण्डारों में रखवाये। अर्थात् मध्यकालीन चित्रकला का अध्ययन करने की विशेष सामग्री इन्हीं जैन भण्डारों में उपस्थित है। 'कल्पसूत्र' अथवा बारसा, 'संघयनीसुत्त', 'कालकाचार्यकथानक', 'श्रीपाल-चरित'—यही अधिकतर चित्रित ग्रंथ इस समय के उपलब्ध होते हैं।

मध्यकालीन जैन चित्र जो अभी तक प्राप्त हुए हैं वह सब श्वेताम्बर सम्प्रदाय के हैं, क्योंकि इस सम्प्रदाय के अनुसार अर्हत और तीर्थङ्करों के चित्र आभूषण-विभूषित होते हैं। इस के प्रतिकूल दिगम्बर प्रतिमाएँ हमेशा नग्न और सादी होती हैं। १२ वीं शताब्दी के चित्रित ताड़पत्र पर लिखी हुई 'कल्पसूत्र' की प्रतियाँ मैं ने पाटन के भण्डार में देखी हैं। ताड़पत्र पर सादे ही चित्र बन सकते हैं, इसी कारण पीला, लाल, सफेद और नीला रंग

---

*देखो—Mandu—The City of Joy by G. Yazdani, पृष्ठ २६-२८।

ही अधिकतर उपयोग में लाया गया है। डा० आनंदकुमार स्वामी ने ई० स० १२६० का कमलचन्द्र का लिखा हुआ 'सावगपडिकमणसुत्तचुन्नी' ग्रंथ खोजा है। उस में से ६ चित्र उन्हों ने प्रकाशित किये हैं। सन् १४५१ में कपड़े पर लिखा हुआ 'बसंतविलास' मैं ने प्रथम १९२६ में खोजा था। इसी 'बसंत-विलास' के चित्रों के आधार पर, जिस में बसंत ऋतु का वर्णन गुजराती और संस्कृत छंदों में है—मैं ने उस चित्र शैली का नाम 'गुर्जर' चित्र-शैली रक्खा। 'बसंतविलास' के चित्र जैन श्वेताम्बर चित्रित ग्रंथों से बहुत ही मिलते जुलते हैं। किंतु इसी शैली के चित्र एल्लौरा के मंदिरों की दीवारों पर भी हैं जो ९ वीं शताब्दी के बने हैं। इस शैली को पाश्चात्य शैली या गुर्जर शैली के नाम से अभिहित करना चाहिए। किंतु इस शैली का प्रभाव कुल राजस्थान में मुग़लों के आक्रमण तक रहा। छोटी पुस्तिकाओं के लिए इस शैली का उपयोग बंगाल, नैपाल और उड़ीसा, शायद काश्मीर में भी १८ वीं शताब्दी तक होता रहा। इस की विशेषता यह थी कि चित्रकार को जो कुछ कहना होता था वह बहुत ही सीधी आलेखन भाषा में कहा गया। बाह्यरूप या लावण्य से अथवा केवल हस्तनैपुण्य या विचित्र रंग विधान से इस शैली का बहुत कम संबंध था। जो चित्र धार्मिक-ग्रंथों के लिए बनाए गए, उन का उद्देश्य केवल धार्मिक प्रसङ्गों को किसी न किसी तरह व्यक्त करने का था। उन का सौन्दर्य दर्शकों की धार्मिक दृष्टि पर अवलम्बित था। आधुनिक दर्शकों के लिए—ख़ास करके जैनेतर जनता के लिए इन चित्रों की रोचकता स्वयं-सिद्ध नहीं है। परंतु इतना अवश्य है कि इन चित्रों में एक प्रकार की निर्मलता, स्फूर्ति और गति-वेग है, जिस से डा० आनंदकुमार स्वामी जैसे रसिक विद्वान् मुग्ध हो जाते हैं। इन चित्रों की परंपरा अजंता, एल्लौरा, बाघ, सित्तन्नवासल के भित्ति-चित्रों की है। समकालीन सभ्यता के अध्ययन के लिए इन चित्रों से बहुत कुछ ज्ञान-वृद्धि होती है। ख़ास कर पोशाक, सामान्य उपयोग में आती हुई चीज़ें, आदि के संबंध में अनेक नई बातें ज्ञात होती हैं। १२ वीं शताब्दी का "अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता" नाम का चित्रित बौद्ध

ग्रंथ भी मिला है, जिस के कई सुंदर पृष्ठ "रूपम्" के प्रथम अंक में प्रकाशित हुए हैं। चित्रशैली नेपाली एवं ठेठ भारतीय है।

सन् १४३३ का भी एक बड़ा चित्रपट मैं ने अभी Indian Art and Letters, Vol. VI, No. 2 में प्रकाशित किया है। उस की विशेषता यह है कि सब से बड़ा चित्रपट ४ फीट ९ इं० की लंबाई का है और सब से छोटा १ फीट ८ इं० का है। चौड़ाई 'बसंतविलास' के क़रीब क़रीब बराबर—११ इंच है। ये दोनों चित्र प्राचीन साहित्य में वर्णित चित्रपटों के नमूने हैं। ५०० वर्ष बीत जाने पर भी इन चित्रपटों की हालत बहुत अच्छी है। इसी शैली का एक सुंदर ग्रंथ अमेरीका के प्रो० नॉरमन ब्राउन ने प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ का नाम 'बालगोपालस्तुति' है और परमहंस बिल्वमंगल का लिखा हुआ है। अर्द्धेंदुकुमार गांगुली इस ग्रंथ को करीब सन् १४२५ का बना हुआ मानते हैं। किंतु यह ग्रंथ १५ वीं शताब्दी का बना हुआ निर्विवाद है। इस ग्रंथ के संबंध में इस से अधिक कहने का हमारे पास कोई विशेष साधन नहीं है। हाल में बंगाल से प्रकाशित किए गए १९ वीं शताब्दी के चित्रपटों की शैली भी इस गुर्जर-शैली से बहुत मिलती जुलती है। इन सभी बातों को देखते हुए मेरा यह अनुमान है कि पुराने भित्ति-चित्रों की परंपरा से उत्पन्न हुई यह मध्य-कालीन शैली सर्वसाधारण के लिए थी और श्रीमानों के आश्रय से और दान से वह सदियों तक हिन्दुस्तान में बनी रही; क्योंकि वह सर्व-साधारण थी और उस का संबंध आम जनता से था। इसलिए राजदरबारी चित्रपरंपरा से यह कुछ भिन्न रही। इस का उपयोग धार्मिक ग्रंथों और लोक-प्रिय भक्ति और शृङ्गार के ग्रंथों के लिए रहा। जैसे 'बसंतविलास' में बसंत ऋतु के आमोद प्रमोद के विषय में गुजराती और संस्कृत मुक्तक छंदों के चित्रित उदाहरण दिये गये हैं, वैसे ही 'बालगोपालस्तुति' में कृष्णलीला के भावपूर्ण चित्र खींचे गये हैं। पहले पहल देखने से इन चित्रों की शैली बिलकुल ही दूसरी मालूम होती है; किंतु विशेष ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से अवगत होता है कि यह गुर्जरशैली भी हमारी पुरानी परंपरा की एक सुंदर और आकर्षक शाखा है। सादृश्य और सुंदर रंगविधान से

इस का बहुत ज्यादा सरोकार नहीं। अधिकतर ये चित्र आकार में बहुत ही छोटे होते हैं, और आँख और कान एवं वक्षःस्थल कुछ इस तरह से दिखाये जाते हैं कि जो आधुनिक, ख़ास कर के भारतीय दर्शकों को बहुत रोचक नहीं होते। किंतु इन को भी भगवान महावीर के केशलुंचन का प्रसंग और नेमिनाथ के विवाह के चित्र अवश्य पसन्द आवेंगे। इवानशुकिन (Ivan Tschoukine) ने अपने बहुत ही सुंदर ग्रंथ में (La Peinture Indienne a L'époque des grands Moghols. 1929) अच्छी तरह से दिखाया है कि इन्हीं जैन चित्रों से १८ वीं और १९ वीं शताब्दी की राजस्थान की और पहाड़ी चित्र-शैलियों की उत्पत्ति हुई। जिस प्रकार सदियों तक जैन-प्रतिमा-विधान में किसी तरह का परिवर्तन नहीं हुआ, उसी प्रकार यह मध्यकालीन लोकप्रिय शैली शताब्दियों तक अपनी पुरानी परंपरा पर आरूढ़ रही। मेरा अनुमान तो यह है कि यही चित्र-शैली हिंदुस्तान की लोकशैली रही। राज-दरबार के आश्रय से बने हुये चित्रों और पाश्चात्य गुर्जरशैली के चित्रों में उतना ही अंतर है जितना आधुनिक थियेटर और सिनेमा में और लोकप्रिय रामलीला के स्वांगों में है। वैसे तो सब से प्राचीन जैन चित्र पुद्दूकोटा के सित्तानवासल के मंदिर की दीवारों पर बने हुए चित्र कहे जाते हैं। उन की रचनाशैली तो बिलकुल अजंता और बाघ के भित्ति-चित्रों से मिलती है। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय कला से पृथक् कोई विशिष्ट जैन सांप्रदायिक कला नहीं थी। कला की विभिन्नता केवल वातावरण की भिन्नता और साधनों की प्रचुरता पर अवलंबित थी। संस्कृत साहित्य में भी पहले से ही मंदिरों और प्रासादों की कला और राजदरबारों के चित्रपटों की कला ये दोनों भिन्न भिन्न शाखाएँ थीं। भारत की मध्यकालीन सभ्यता का ख़ास तत्व यह है कि वह भक्तों का ज़माना और प्राकृत भाषाओं का उत्पत्ति-काल था। दूसरे शब्दों में सर्वसाधारण संस्कृति का वह मंथन और उत्थान काल था। साहित्य, धर्म और कला एक समाज के ख़ास संकुचित दायरे के भीतर बंद नहीं रहे। देश की सभ्यता के उत्कर्ष में आम जनता का भी कुछ हिस्सा था, उस की प्रथम प्रतीति मध्यकालीन भक्तों ने ही कराई। भक्तों और कवियों की कृतियों को इन प्राकृत

चित्रकारों ने सुलभ बनाया। शोक मात्र इतना ही है कि ७ वीं और १५ वीं शताब्दी के बीच के उपलब्ध हुए चित्रित-ग्रंथों और चित्रपटों की संख्या अभी तक बहुत परिमित ही है। अधिक अनुसंधान से लोक-गीतों के समान पुराने चित्रपट भी ज़रूर उपलब्ध होंगे।*

इन जैनचित्रों की शैली आम जनता को रोचक नहीं होती। राज-दरबारों के आश्रय द्योतक सुंदर काग़ज़, रंग और सोने चाँदी का प्रचुर व्यवहार होते हुए भी इस कला का जन्म शाही महलों में नहीं हुआ था। जन्म से ही यह शैली प्राकृत थी और इस के सुनहरे पृष्ठों पर मध्यम श्रेणी के श्रेष्ठियों की धर्म-वृत्ति की गहरी छाप है। रसिकता के अंश का यहाँ साम्राज्य नहीं है।

---

*संस्कृत के प्रसिद्ध नाट्यकार भास ने अपने 'दूतवाक्य' नाम के एकाङ्की नाटक में चित्रों की विशेषता का बड़े सुन्दर ढंग से उल्लेख किया है। पाण्डवों की ओर से संधि का प्रस्ताव लेकर कृष्ण दुर्योधन की सभा में आये हैं। उस समय दुर्योधन द्रौपदी-चीर-हरण की घटना से अंकित एक चित्रपट राजसभा में मँगवाता है और चित्रकार का अनुपम कौशल देखकर कह उठता है "अहो अस्य वर्णाढ्यता। अहो भावोपपन्नता। अहो युक्तलेखता। सुव्यक्तमालिखितोऽयं चित्रटः।" इससे प्रकट है कि चित्रपट बनाने की प्रथा ईसा की प्रथम शताब्दी में प्रचलित थी। साथ ही दुर्योधन का उद्गार प्राचीन युग में कला की कसौटी का ज्वलन्त नमूना भी है।

इस्लामी सभ्यता और चित्रालेखन

फ़ारसी, तुर्की और उर्दू भाषाओं में चित्रकार को मुसव्वर कहते हैं और यही अभिधान .क़ुरानशरीफ में अल्लाताला के लिए इस्तेमाल किया गया है। .क़ुरान के पाँचवें अध्याय ५२ वें सूरा में कहा है कि शराब, द्यूत, प्रतिमा-विधान, भविष्य-कथन ये सब शैतानों की कार्रवाइयाँ हैं; इन चीज़ों से मुसलमानों को बचना चाहिए। यद्यपि इस में चित्रकला के लिए कोई निषेध नहीं है; परंतु हदीस के अनुसार क़यामत के दिन चित्रकार को घोर नरक में स्थान होगा, क्योंकि उस ने मनुष्य-कृत वस्तुओं में प्राण-संचार करने का दुस्साहस किया है। जो करामात सृजनहार की ही हो सकती है उस में मनुष्य को हस्तक्षेप का अधिकार नहीं। चूंकि चित्रकार यह साधारण सी बात नहीं समझता है, और जीवित पदार्थों की प्रतिमाएँ या तस्वीरें बनाता है, इसी कारण उस का कार्य अतीव निन्दनीय है। यह भी लिखा गया है कि जहाँ चित्र होते हैं वहाँ देवताओं का वास नहीं हो सकता। १३ वीं शताब्दी के मशहूर मौलवी नवव्वी ने लिखा है कि इसलाम धर्म के अनुसार ईश्वर की सृष्टि का अनुकरण कर के कोई भी चीज़ बनाना पाप है, चाहे वह कपड़े पर, क़ालीन पर, सिक्के पर, बर्तन पर, या किसी भी चीज़ पर बनी हो। फूलपत्तियों और नक़्क़ाशी के काम के लिए, जो प्राण विहीन हैं कोई निषेध नहीं है। दुनिया के संप्रदायों में कला के विषय में यह इस्लामी दृष्टिकोण अनोखा ही है। सर टॉमस ऑर्नल्ड के मतानुसार यह तिरस्कार इसलिए संभव हो सकता है कि शुरू में इस्लाम धर्म के अनुयायी यहूदी थे, जिन के मन में पुरानी प्रतिमाओं और चित्रों के प्रति बहुत ही दुर्भाव और तिरस्कार पैदा हुआ हो, जैसे हमारे आधुनिक आर्य-समाजियों को सनातन

धर्म के अनुयायियों की मूर्तिपूजा के प्रति ख़ास अरुचि है। जो कुछ हो, इस निषेध का सब से भारी असर यह हुआ कि आम मुसलिम सभ्यता में शिल्प और चित्रकला को प्रधान स्थान कभी मिलने नहीं पाया और कलागत तत्वों का नियमानुसार अध्ययन नहीं हो सका। वैसे तो नवमीं शताब्दी में मुसलिम बादशाहों के आश्रय में बनी हुई तस्वीरों के अवशेष अभी तक विद्यमान हैं, परंतु मुसलिम जनता चित्र और प्रतिमा के प्रति हमेशा उदासीन ही रही। इस वजह से बादशाही ज़माने की हज़ारों तस्वीरों का मुसलमानों के हाथ नाश हुआ। अकबर के ज़माने में बने हुए अतीव सुंदर 'हमज़ानामे' के क़रीब क़रीब सब चित्रों में चेहरे ख़राब कर दिये गये हैं, क्योंकि जिन धार्मिक मुसलमानों के हाथ में ये तस्वीरें पड़ीं, उन के लिए ये निन्दनीय वस्तुएँ थीं। अलबरूनी की मशहूर पुस्तक 'अल-आथार-अल-बाँकिया' की, १३०७-८ में बनी, एक चित्रित प्रति एडिनबरा के विश्व-विद्यालय के संग्रह में है। चूंकि उस में पैग़म्बर की भी एक तस्वीर थी, इस कारण पुस्तक के श्रद्धालु अधिकारी ने चेहरे पर से सब रंग खुरच लिया! सौभाग्य से फिर भी पैग़म्बर के दो चित्र और अन्य फ़रिश्तों की तस्वीरें बची ही रहीं। १४ वीं शताब्दी के सुलतान फीरोज़शाह अपने आत्म-वृत्तान्त में लिखते हैं कि उन के प्रासादों की दीवारों और दरवाज़ों पर जो तस्वीरें थीं सब को उन्हों ने अल्लाताला की आज्ञानुसार पुतवा दिया, और जिन जिन वस्तुओं पर—डेरे, परदे, कुर्सियों पर—जहाँ जहाँ किसी क़िस्म की प्रतिमूर्त्ति पाई गई उस को भी मिटा दिया। फीरोज़ सुलतान को निगाह में यह एक धार्मिक कर्त्तव्य था। कई पुराने मुसलिम चित्रों में चेहरों पर स्याही पोत दी गई है। इस्लाम की पुरानी तवारीख़ों की विशेषता यह है कि परस्पर के विद्वेष और राजकीय विग्रह के कारण राजवंश बारंबार बदलते रहे। इसका परिणाम सुन्दर पुस्तकों और चित्रों के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। सब से भयंकर विनाश तो मंगोल विजेता चंगेज़ ख़ां और उसके पौत्र हुलागु ने किया। इन की नज़रों में तो इस्लामी सभ्यता की जो कुछ चीज़ें मुसलमानों

को प्रिय और पवित्र रहीं वह बिलकुल ही व्यर्थ और निकम्मी थीं। जहाँ जहाँ मंगोल सम्राट् की विजय-वाहिनी पहुँची वहाँ सिवा विनाश के और कोई भी अवशेष नहीं रहा। सन् १२२० में इसलामी सभ्यता का बड़ा केंद्र बुख़ारा जब लूटा गया तब वहाँ की जामे-मसिजिद को मंगोल विजेताओं ने घोड़ों का अस्तबल बनाया और कुरानशरीफ़ के पन्नों को घोड़ों की बिचाली के काम में लाये। नैशापुर, बग़दाद, इन सबों की यह दुर्दशा हुई। १२५८ ई० में हुलागु ने बग़दाद लिया। ८ लाख नागरिकों को क़त्ल कर डाला और एक हफ्ते तक अपनी फौज से शहर के कोने कोने लुटवाए। हिन्दुस्तान के पायेतख़्त दिल्ली के भी कुतुबख़ाने को यही दशा हुई। मुग़ल साम्राज्य का जब पतन हुआ तब इन पुस्तकालयों के लुटने के बाद थोड़ी ही चीज़ें बचीं। सन् १७३९ में नादिरशाह ने अकबर का एकत्र किया हुआ प्रसिद्ध संग्रहालय लूटा। कुशल इतनी ही हुई कि इन पुस्तकों को उन्हों ने अपने राजनगर हिरात के संग्रहालय में पहुँचाया। जो कुछ अवशेष बचे थे रुहेलों ने लूट लिये। कुछ हिस्सा रामपुर के नवाब के पुस्तकालय में मौजूद है। बादशाही पुस्तकालय के हज़ारों ग्रन्थ तितरबितर हो गये। सर सैयद अहमद ख़ाँ लिखते हैं कि जब वह क़िले के शाही कुतुबख़ाने में गये तब एक कोने में कूड़े के साथ कुछ हस्तलिखित पन्ने मिले। यहीं 'तुज़ूक-इ-जहाँगीरी' की एक सुन्दर हस्तलिखित प्रति थी, जो स्वयं जहाँगीर ने अपने समकालीन राज-जनों में बँटवाने के लिए लिखवाई थी। इस प्रति का अब अस्तित्व नहीं हैं, क्योंकि १८५७ में सर सैयद का भी मकान लूटा गया। हिंदुस्तान की सभी बड़ी बड़ी रियासतों में मुग़ल कुतुबख़ाने के अवशेष मिलते हैं। सब से प्रसिद्ध ग्रंथ तो अकबर के ज़माने में किया हुआ महाभारत का अनुवाद—सैकड़ों तस्वीरों से विभूषित—'रज़्मनामा' है। सौभाग्य से इस की पूरी जिल्दें जयपुर दरबार के पोथीख़ाने में सुरक्षित हैं। हिन्दुस्तान में तो मुग़ल ज़माने की बहुत ही थोड़ी तस्वीरें बची हैं। बाक़ी तो समुद्र पार करके यूरोप और अमेरिका के सार्वजनिक एवं श्रीमंतों के संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रही हैं। एक सुंदर पुस्तक 'तारीख़-इ-तैमूरी' बांकीपुर की ख़ुदाबख़्श लाइब्रेरी में बची हुई है।

चित्रों के विषय में अरुचि सभी इस्लामी रियासतों में बहुत ही आधुनिक काल तक रही है। तुर्की सुलतान महमूद दूसरे ने (ई० १८०८—१८३९) यूरोपीय प्रथा के अनुसार कुस्तुनतुनिया को सब बारकों में अपनी शाही तस्वीर रखने का हुकुम दिया। परंतु उल्माओं के आदेशानुसार लोगों ने विद्रोह का झंडा उठाया, और ४००० लाशें मारमोरा के समुद्र में दफ़न हुईं, तब जाकर विद्रोह-शांति हुई।

दूसरा असर तो बहुत ही विदित और विश्व-व्यापी है। दुनिया की किसी भी मसजिद में तस्वीरों के लिए कोई भी स्थान नहीं है। मंदिरों में, गिरजाघरों में और बौद्धिक विहारों में,—सर्वत्र भावुकों के मन-बहलाव अथवा भक्ति-भाव-पोषण के लिए धर्मप्रसङ्गों के असंख्य चित्र बने हुए हैं। वरन् इसलाम को छोड़ कर चित्रकार का सब से बड़ा भारी आश्रयदाता सम्प्रदायवाद ही रहा।

जैसे चित्रों के लिए निषेध था, वैसे ही मक़बरा बनाने की भी मुमानियत रही। संगीत भी निषिद्ध था। शराब भी अतीव ही निन्दनीय गिनी जाती थी। किंतु धर्म शास्त्र का निषेध प्रायः साधारण और ग़रीब जनता के मानने के लिए ही होता है; सम्पन्न और शक्ति शाली के आचरण के लिए तो अलग ही नियमावली उपयुक्त होती है। 'समरथ को नहिं दोस गोसाईं'। हज़रत अली ने यहाँ तक कहा है कि चित्रों और प्रतिमाओं का नाश करना चाहिए, और बड़े बड़े उत्तुंग मक़बरों को ढा देना चाहिए। इसलामी सभ्यता के आरम्भ से ही कला के संबंध में शास्त्रों के आदेश और लोगों के आचार में बड़ा ही अंतर रहा। सब से पुराने इसलामी सभ्यता के चित्र ८ वीं शताब्दी के कुशेर-अम्र के शिकारगाह में मिलते हैं। ये सब चित्र दीवारों पर बने हैं। मुहम्मद ग़ज़नी ने भी (ई० सं० ९९८—१०३०) अपने प्रासादों में अपने पराक्रम के, युद्धों के, लश्कर के, हाथियों के चित्र बनवाए थे। सूफी लेखक अबूसईद-इब्न-अबुल-ख़ैर अपने पिता को उपालम्भ देकर लिखता है कि उन्होंने सृष्टिकर्त्ता की कृतियों का गान करने के बजाय, बादशाह महमूद का चित्रकर्म द्वारा यशोगान किया। आबासीद और उमय्यद ख़लीफों के महलों

में भी अनेक चित्र बने हुए थे। नसीर-इब्न-अहमद (ई० सं० ९१३—९४२) ने पंचतंत्र और हितोपदेश की कहानियों का अनुवाद—'कलीला और दमना'—रूदगी नाम के कवि से करवाया और चीनी मुसव्वरों के चित्रों से उसे विभूषित किया। मुसलमान बादशाहों को पंचतंत्र की कहानियाँ हमेशा से पसंद रही हैं। 'कलीला और दमना' या 'अनवार-इ-सुहेली' के अनेक चित्रित ग्रंथ सब काल के और सब मुसलिम देशों में मिलते हैं। दिल्ली के शाह मुहम्मद तुग़लक़ ने भी अपने महल में उपवन क्रीड़ा के अनेक चित्र बनवाए थे। तैमूरशाह ने अपने समरकंद के उद्यान-भवन में बहुत ही सुंदर भित्ति-चित्र बनवाये, जिन की तुलना *मानी* के चित्रों और चीन के कला-भवनों के साथ की गई है। दुनिया के धर्मप्रवर्तकों में मानी एक अनन्य व्यक्ति है। सदियों तक ईरान और पश्चिमी एशिया में उस के धर्म का प्राबल्य रहा। परंतु ईरान के बादशाहों ने उस के अनुयायियों पर बहुत सख़्तियाँ कीं, यहाँ तक कि १० वीं शताब्दी में तो ईरान में मानी के ३०० ही अनुयायी रह गए। मानी स्वयं एक अप्रतिम चित्रकार था और उस ने अपने धर्म-ग्रंथों को चित्र-विभूषित किया। उस के अनुयायियों ने भी अनेक सुन्दर पुस्तकें रचीं। ई० सन् २७४ में ईरान के बादशाह बहराम ने उसे ईसा की भाँति शूली पर लटकवा दिया। मानी के अनुयायियों के बनाये कई चित्रित-ग्रंथ जर्मन पुरातत्त्ववेता प्रो० लकॉक (Le Coq) ने प्राप्त किए, जो अब बर्लिन के संग्रहालय में मौजूद हैं। तुरफान के पास के एक खंड-हर में से, जो पहले मानी धर्म का मंदिर रहा होगा, कुछ भित्ति-चित्र भी मिले। इन चित्रों में कुछ भारतीय विषय भी चित्रित हैं। इस चित्रकला की विशेषता उस की सुंदर रेखाओं में है, और इन्हीं चित्रों में से १५ वीं और १६ वीं शताब्दी की फ़ारसी कला का उद्भव हुआ। सन् ९२३ ई० में मानी धर्म के १४ थैले भर ग्रंथ बगदाद में जलाये गये और उस वक़्त कहा जाता है, चित्रों में लगे हुए सोने चाँदी का एक प्रवाह सा बह चला था। मानी चित्रकारों का चीनी कला से भी संबंध रहा। इसी कारण ईरानी कला में चीन की कला को समझने के लिए कुछ महत्त्व के अंश मिलते हैं। चीनी चित्र-

कारों का नाम प्राचीन जगत में बहुत ही बड़ा था। अलोबी (ई० सन् ९६१-१०३४) कहता है कि इन चित्रकारों की तस्वीरें देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानों चित्रित व्यक्ति श्वास ले रहे हैं। मनुष्य के हर एक हाव भाव ये चीनी चित्रकार दिखा सकते हैं।* मुग़ल ज़माने में भी बादशाहों ने चीन से ही बर्त्तन वग़ैरह बनवाये। मुग़ल चित्रों में *मिंग* समय के चीनी बर्तन बहुधा पाए जाते हैं। शराब की सुराहियाँ, प्याले, खाने की तश्तरियाँ ये सभी चीज़ें मुग़ल बादशाह चीन से मँगवाते थे।

तैमूर के वंशजों ने तो चित्रकला का उद्धार ही किया, यह कहने में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है। बाबर को चित्रकला से, उपवनों और सुंदर सरिताओं, एवं प्रकृति के रमणीक दृश्यों से विशेष प्रेम था। उन का अपने हाथों से लगाया हुआ—अपनी निगरानी में बनवाया हुआ जमुना के किनारे रामबाग़ अभी तक आगरे में मौजूद है। इस संबंध के अकबर के काल में बने हुए 'वाक़ियात-इ-बाबरी' के चित्र भी प्रकाशित हो चुके हैं। १४वीं शताब्दी के बाद इसलामी दुनिया में चित्रों के विषय में धार्मिक प्रतिबंध कोई ख़ास महत्त्व का नहीं रहा। मुग़ल बादशाहों और ईरान के सफ़वी शाहों ने चित्रकला को पुनर्जीवित किया। अबुलफ़ज़ल ने तो यहाँ तक लिख दिया कि जलालुद्दीन अकबर की राय में मुसव्वर ईश्वर की विभूतियों को समझने का एक विशेष साधन है। जब चित्रकार चित्र बनाता है तब उस को अपनी अल्प-शक्ति और ईश्वर की अपार विभूति का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। परंतु अबुलफ़ज़ल और अकबर की राय से मुसलिम जनता के विचारों में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं हुआ। फलतः चित्रकला जनता के घरों और देवस्थानों के बाहर ही रही; प्रमोद-वस्तु ही बनी रही, आध्यात्मिक प्रेरणा से चेतनायुक्त होकर कविता-सृष्टि में परिवर्तित नहीं हुई।

मुग़ल बादशाहों की अप्रतिम शक्ति के बल से भी इस्लाम के देवस्थानों में चित्रकला का प्रवेश नहीं हुआ। पुराना आदेश शायद यही रहा हो कि

---

* देखो पृ० ६ "सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्।"

ईश्वर-आराधना के समय कोई ऐसी वस्तु समीप न होनी चाहिए जिस से चित्त-विक्षेप हो। इसी से बड़ी बड़ी मसजिदों के होते हुए भी उन के भीतरी भाग में हमेशा से सादगी ही रही। फूल पत्तियों के चित्रों को भी, जिन का कभी निषेध नहीं था, स्थान नहीं मिला। किंतु यह सब होते हुए भी बादशाहों ने धार्मिक विषयों पर भी चित्र बनवाए। केवल इन चित्रों का निवास देव-स्थानों में नहीं, वरन् प्रायः पुस्तकालयों की सुंदर सुनहरी और मज़बूत जिल्दों के भीतर रहा।

पैगंबर और फ़रिश्तों के चित्र प्रायः ऐतिहासिक ग्रंथों में मिलते हैं। रशीउद्दीन की 'जाम-अत-तवारीख़' और मीर ख्वांद के 'रौदात-ए-सफ़ा' (ई० स० १५९५) में कई धार्मिक विषयों के चित्र हैं। नवाई के 'नज़्म-अल-जवाहर' (ई० स० १४८५) में एक बहुत ही सुंदर चित्र दिया है जिस में एक गुंबज़ वाली अतीव ही सुंदर मसजिद में पैगंबर को लिखाते हुए दिखाया है। दाहिने कोने में हज़रत अली खड़े हैं। (देखो चित्र २२, सर टॉमस आर्नल्ड का Paintings in Islam) ऐसे कुछ चित्र अलबरूनी के मशहूर ग्रंथ अल-आथार-अल-बाँकिया में भी मिलते हैं।* १६ वीं शताब्दी के बाद के चित्रों में पैगंबर का चेहरा बुरक़े से ढका हुआ दिखाया गया है। ईसा के—जिन का पैगंबर के बाद ही इस्लामी धर्मग्रंथ में स्थान है—कई चित्र पुराने इस्लामी ग्रंथों में मिलते हैं। निज़ामी के 'ख़मसा' में, जिस की एक नकल सन् १५०० में चित्र-विभूषित की गई थी—एक बहुत ही सुंदर चित्र है जिस में ईसा एक कुत्ते की मृत-देह के पास करुण दृष्टि से निरखते हुए दिखाए गए हैं (सर टॉमस आर्नल्ड की पुस्तक, चित्र २८)। अनेक धार्मिक विषयों के चित्र बने, परंतु आम जनता ने उन को कभी पसंद नहीं किया।

मुसलिम बादशाहों ने कभी कभी सिक्कों पर भी अपनी तस्वीरें खुदवाईं। ख़लीफ़ अब्दल मलीक के (ई० स० ६८५-७०५) तस्वीर वाले सिक्के

---

* देखो—The Ascent of the Prophet to Heaven प्लेट १४; The Poems of Nizami 1928. Studio Ltd., London.

अभी तक उपलब्ध हैं। मुग़ल मुद्राशास्त्र में सिक्कों पर बनी हुई हाथ में शराब का प्याला लिए हुए जहाँगीर की तस्वीर मशहूर है। जहाँगीर ने तो नूरजहाँ बेगम की भी अपने साथ सिक्के पर तस्वीर खुदवाई।

महमूद ग़ज़नवी ने मुसव्वरों की कला का बहुत ही आधुनिक प्रयोग किया। मध्यकालीन दुनिया के मशहूर हकीम आवीसेना (Avicenna)* को महमूद ग़ज़नवी ने अपने यहाँ बुलाना चाहा, परन्तु ये विद्वान हकीम आने को राज़ी नहीं हुए। तब इन को पकड़ने और इन का पता लगाने के लिए महमूद ने अबूनस्र-इब्न-अर्राक़ से आवीसेना का चित्र बनवाया और उस की ४० नक़लें अन्य चित्रकारों से बनवाकर अपने पड़ोसी राजाओं के दरबार में भेजीं, जिनसे हकीम का पता लग जावे। आजकल जैसे मुजरिमों को पकड़ने के लिए तस्वीर का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही महमूद ने भी इस स्वतंत्र हकीम को पकड़ने को प्रयास किया।

हज़रत मुहम्मद के चाचा अमीरहमज़ा की कार्रवाइयों के १४०० बड़े सुन्दर चित्र अकबर के जमाने में बनाये गये। उन में से थोड़े ही बचे हैं—६१ वियेना में हैं, २५ लंदन के साउथ केन्सिंगटन म्यूज़ियम में और पाँच सात और संग्रहों में विद्यमान हैं।

हदीस के प्रतिषेध का एक सब से भारी असर यह हुआ कि चित्रों के स्थान पर मुसलिम सभ्यता में ख़ुशनवीसी का महत्त्व बहुत ही बढ़ा। सुन्दर अक्षरों की क़ीमत चित्रों से बहुत कुछ बढ़ी चढ़ी थी। यहाँ तक कि स्वयं बादशाहों ने भी क़ुरानशरीफ़ की सुन्दर नक़लें बनाना अपना फ़र्ज़ समझा। दुनिया की किसी भी सभ्यता में सुलेखनकला का ऐसा विकास नहीं हुआ। कूफ़ी, नस्तालीक़, आदि नामों से प्रचलित कई तरह की लेखन प्रणाली कायम हुई। मसजिदों और मक़बरों के दरवाज़ों पर, क़ब्रों की चट्टानों पर अनुपम सौन्दर्य से क़ुरानशरीफ़ की आइतें लिखी गईं। पुराने फ़ारसी ग्रन्थों का

---

* इस हकीम का असली अरब नाम निम्नलिखित है—

'अबू-अली-हुसैन-इब्न-अब्द-अल्लाह-इब्न-सीना'

लेखन अतीव सुन्दर रहा। मुसलिम बादशाहों ने ख़ुशनवीसों को दोनों हाथों से सम्पत्ति दान की। मुसलिम सभ्यता के इतिहास में सांप्रदायिक दृष्टि से इन सुलिपियों का बड़ा ही ऊँचा स्थान था। सुन्दर लेखन के साथ सुन्दर बेलबूटों और अनेक प्रकार के नये आकारों की सृष्टि हुई। किसी भी सुन्दर पुराने फ़ारसी ग्रंथ का प्रथम पृष्ठ बहुत ही रुचिर होता है। इस लेखनशैली से—उस की सौन्दर्य-वाहिनी रेखाओं से—सभ्य जातियों के शब्दकोश में एक नये शब्द की उत्पत्ति हुई। 'Arabesque' 'एरेबेस्क' शब्द सभी सुन्दर और विचित्र जालियों के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अरबी पुस्तकें प्रायः चित्रविहीन होती हैं। अरब के लोगों को स्वाभाविक कारणों से चित्रकला के प्रति विशेष अनुराग नहीं था। परन्तु जब अरबों ने इसलाम की विजय-पताका दुनिया के और देशों में फहराई तब अरब विजेताओं ने इन सभ्य देशों के कारीगरों एवं कलाकारों को आश्रय दिया। स्पेन, मिस्र, ईरान, और हिंदुस्तान में जहाँ जहाँ इसलामी सल्तनत का प्रभाव पहुँचा वहाँ उन देशों के कारीगरों की शक्तियाँ काम में लाई गई। महमूद ग़ज़नवी हिंदुस्तान की लूट के साथ कई सौ कारीगरों को भी साथ ले गया था। मुग़लों के पहले के इसलामी स्थापत्य में तो भारत-निवासी हिंदुओं का बहुत ही प्रधान हिस्सा है। अकबर के दरबार में भी अबुलफज़ल के कथनानुसार हिंदू मुसव्वरों की तादाद मुसलिम चित्रकारों की अपेक्षा बहुत कुछ ज्यादा थी। इस का प्रधान कारण यही है कि हिंदू देवस्थानों में, घरों में, प्रासादों में चित्र-विधान एक साधारण वस्तु थी। अकबर के शिक्षक अब्दुस्समद शीराज़ी के मशहूर और पट्ट शिष्य दो कहार थे—दशवंत और बसावन, जो पहले पालकी उठाने के काम में नियुक्त थे। इन दोनों के कई चित्र जयपुर के पोथीख़ाने के रज़्मनामा में मौजूद हैं।

धार्मिक प्रतिषेध के कारण इसलामी चित्रकारों का विषय-क्षेत्र भी संकुचित रहा। ईरानी मुसव्वरों ने ईरान के प्राग्-इसलामी काल के 'शाहनामा' के विषय को ही अपने चित्रों के लिए पसंद किया। निज़ामी के 'ख़मसे' की भी

अनेक चित्रित प्रतियाँ मिलती हैं। सादी के 'गुलिस्ताँ' और 'बोस्ताँ' भी फारसी चित्रकारों की रुचि के अनुकूल रहे। ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, एवं वैद्यक ग्रंथों के भी चित्र उन्होंने बनाए। मुग़ल बादशाहों के ज़माने में भी शाही चित्रकारों ने अधिकतर हिंदू ग्रंथों के लिए ही चित्र बनाए। रामायण, महाभारत, पंचतंत्र, केशवदास की रसिक प्रिया, गीतगोविन्द, ऐसे अनेक ग्रंथों का अनुवाद किया गया, और उन के लिए अनेक सुंदर चित्र बनवाए गये। मुग़ल काल में चित्रकारों का स्थान पहले की अपेक्षा निस्संदेह ऊँचा रहा। अकबर से औरंगज़ेब के काल तक इन चित्रकारों ने उस ज़माने के इतिहास के लिए अमूल्य और अद्वितीय साधन छोड़े।

जिस प्रतिभा को दरबार और राजघराने के संबंध के चित्रों में स्थान नहीं था, उस प्रतिभा को प्रदर्शित करने का सुअवसर चित्रकारों को इन हिन्दू ग्रन्थों के कारण मिला। इस के पूर्व के चित्रों में विषय का जो पिष्टपेषण होता रहा, वह बिलकुल ही जाता रहा। दरबार में सुंदर, भड़कीली पोशाक, मूल्यवान आभूषण और शाही शानोशौकत के लिए ही स्थान हो सकता है; उस में अंतर्गत आवेश या चित्तवृत्तियों के प्रदर्शन करने का प्रायः अवसर ही नहीं मिल सकता। इसी कारण मुग़ल चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट नमूनों से भी कुछ जी ऊब जाता है। केवल वैभव और विलास से ही आत्मा की सच्ची तृप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण आज से १०-१५ वर्ष पूर्व शाही कला का जो सम्मान था वह अब नहीं रहा। जब मुग़लकला का अध्ययन शुरू हुआ और लोगों को उस ज़माने की चित्रकला के दर्शन हुए, तब उस के अद्भुत कौशल, वर्णवैभव और ऐतिहासिक प्रसंगों की प्रचुरता से लोग मुग्ध से हो गये। उस ज़माने में जनता के धार्मिक भावों को प्रदर्शित करने वाले सादे, किंतु सच्चे और सात्विक चित्रों का अस्तित्व तक लोगों को मालूम नहीं था। इस समय दुनिया का आधुनिक मानस भावों की शुद्धि की तरफ़ अधिक झुकता जा रहा है। शाही शानोशौकत के परदों के पीछे साधारण जनता का दारिद्र्य लोगों को स्मरण आता है और खटकता है। इसी कारण छोटे, सादे, किन्तु भावपूर्ण चित्रों से रसिकजनों

की जो तृप्ति होती है, वह सुंदर, भव्य परंतु संकुचित आलेखन से नहीं होती।

चित्रकला में यह नया परिवर्तन अकबर के ज़माने में ही हुआ। अकबर बड़ा विलक्षण पुरुष था। उस के और जहाँगीर के ज़माने के राजदरबारी चित्रों को छोड़ कर भी कई ऐसे चित्र मिलते हैं, जिन में चित्रकारों को अपनी उर्वर कल्पना शक्ति के साथ ही आलेखन का यथार्थ दर्शन कराने का पूरा अवसर मिला। इतिहास के आरंभकाल से ही 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' भारतीय साहित्य के अत्यधिक लोकप्रिय ग्रंथ रहे। ईसा की ६ वीं शताब्दी में तो 'पंचतंत्र' की कहानियों की प्रसिद्धि हिंदुस्तान की सीमाओं को लाँघ कर बाहर सर्वत्र फैल गई। फ़ारसनरेश नौशेरवाँ ने ६ वीं शताब्दी में पहलवी भाषा में इस का अनुवाद कराया। फिर पहलवी से इब-नलमुकफ़्फ़ा ने ८ वीं शताब्दी में 'कलीला वा दमना' के नाम से उस का अरबी में भाषान्तर किया। अरबी से दुनिया की सब सभ्य भाषाओं में इन कहानियों का प्रचार हुआ। अबुलफज़ल ने भी 'यार-इ-दानश' के नाम से इन प्रसिद्ध कहानियों का फ़ारसी अनुवाद किया। हुसैन-इब्न-अली-वईज़ ने, जो अलकाफ़शी के नाम से प्रसिद्ध हुए, पंचतंत्र का सब से प्रसिद्ध भाषान्तर किया है। अलकाफ़शी खुरासान के राजा सुलतान हुसैन मिरज़ा (ई० सं० १४६९-१५०६) के दरबार में रहे। सुलतान हुसैन मिरज़ा भी तैमूरवंशज थे, और मुग़लों की भाँति वह भी कवियों और कलाकारों के अनन्य आश्रय-दाता रहे। कवि जामी, ईरानीक़लम के अनुपम मुसव्वर बैहज़ाद और मशहूर लेखक सुलतानअली सुलतानहुसैन मिरजा के दरबार के त्रिरत्न थे। अलकाफ़शी ने अरबी से अपने आश्रयदाता शेख़-अहमद-अल-सुहेली के नाम पर हिंदुस्तान की पुरानी कहानियों का 'अनवार-इ-सुहेली' के नाम से फ़ारसी रूपान्तर किया। 'अनवार-इ-सुहेली' की बहुत ही सुन्दर प्रतियाँ—एक ब्रिटिश म्यूज़ियम में, दूसरी नवाब रामपुर के पुस्तकालय में, तीसरी बलराम-पुर महाराज की लाइब्रेरी में विद्यमान हैं। मि० विलकिन्सन ने ब्रिटिश म्यूज़ि-यम वाली प्रति रंगीन चित्रों में प्रकाशित की है। यह प्रति ई० सन् १६१०

की लिखी हुई है। उस में से दो चित्र १६०४ के बने हुए हैं। इस से यह विदित होता है कि पुस्तक का आलेखन-कार्य अकबर के ज़माने से ही प्रारम्भ हुआ। इस प्रति के ३६ चित्रों में १० चित्रकारों के नाम हिन्दू हैं और ६ के मुसलमान। अनन्त, बिसनदास, आक़ारज़ा और उस का पुत्र अबुल हसन, नादिर-उलज़मां, माधौ, नान्हा जैसे प्रसिद्ध चित्रकारों के नाम मिलते हैं। इन चित्रों की विशेषता पशुपक्षियों के अति ही भावपूर्ण आलेखन में है। भारतीय शिल्प में आरंभ से ही "वसुधैवकुटुम्बकम्" के सिद्धान्तानुसार मानव-सृष्टि और मानवेतर सृष्टि में किसी प्रकार का अन्तर नहीं माना गया। भार्हुत, सांची, अमरावती, अर्थात् कुशान काल के तमाम शिल्प में—विशेषकर जहाँ जहाँ बौद्ध विषयों की प्रधानता है, वहाँ पशु पक्षियों के चित्रों का जगत के इतिहास में अनन्य और अद्भुत निरूपण किया गया है। शिल्पकारों की दृष्टि में पशु पक्षी निम्नकोटि की सृष्टि नहीं थे, वरन् उसी श्रृंखला की कड़ियाँ थे, जिन के द्वारा भगवान बुद्ध ने भी अन्त में अनेक जन्मों के बाद परिनिर्वाण-प्राप्ति की। पशु पक्षियों में ऐसी सुन्दरता से भावारोपण किया गया कि इस शिल्प के नमूनों की तुलना यदि हो सकती है तो केवल बहुत पीछे के चीनी चित्रकारों की कृतियों से ही हो सकती है। हिन्दू चित्रकारों को 'अनवार-इ-सुहेली' के चित्र बनाने में स्वाभाविक आनन्द आया होगा। परिचित वातावरण पाकर उन की शक्तियाँ स्वभावतः खिल उठीं, और शाहीकला की जो त्रुटियाँ थीं वह कुछ अंशों में इन लोकप्रिय ग्रंथों के चित्रों द्वारा दूर हुईं। किन्तु फिर भी जो बात मध्यकालीन शिल्पकार को सिद्धहस्त थी वह मुग़ल चित्रकार को प्राप्त नहीं हुई। मध्यकालीन मूर्ति-निर्माण में भाव-निदर्शन इतनी सुघरता और विशदता से किया जाता है कि गंधर्व, विद्याधर एवं अन्य व्योमचरों के लिए पंख बनाने की ज़रूरत नहीं होती। उन की वेगवती चेष्टाएँ बहती रेखाओं द्वारा ही प्रदर्शित की जाती हैं। मुद्राएँ ऐसी विशदता से प्रयुक्त होती हैं कि मानो आंतरिक भाव मूर्तिरूप होकर सामने खड़े हो जाते हैं। गति, वेग और मुद्रा पर मध्यकालीन शिल्पकार का अद्भुत प्रभुत्व रहा। इस का दिग्दर्शन कभी कभी मुग़ल काल के हिन्दू-चित्रकार की कृतियों में होता है।

ईरानी चित्र-परंपरा में अंगुलिनिर्देश से ही भाव निदर्शन हुआ करता था। उस चित्र-परंपरा में वर्ण-वैचित्र्य और घूमती हुई रेखाओं का सब से अधिक महत्त्व था। सादृश्य और चारित्र्य-निदर्शन को शबीह में गौण स्थान था। हिंदू चित्रकला की परिपाटी उस से बिलकुल ही विरुद्ध थी। इसी कारण फ़ारसी शिक्षक मीर सैय्यद अली और ख़्वाजा अब्दुस्समद शीराज़ी के होते हुए भी मुग़ल कला पर ईरानी क़लम का असर बहुत ही कम और थोड़े ही समय तक रहा। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि हिंदू चित्रकारों ने ईरानी क़लम में तस्वीरें अपनी अनुकरण शक्ति का प्रभाव दिखाने को ही बनाईं, जैसे कि आज कल के चित्रकार और अन्य कलाकार भी कभी कभी पाश्चात्य चीज़ों का अनुकरण कर के रचना-निर्माण करते हैं।

जहाँगीर के समय में पशु पक्षियों के अनेकानेक चित्र बने। सब से प्रसिद्ध चित्र उस्ताद मंसूर नक़्क़ाश ने बनाये हैं। इस चित्रकार को जहाँगीर ने 'नादिर-अल-असर' की उपाधि दे कर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया था। जहाँगीर ने अपने आत्मवृत्तान्त 'तुज़ुक-इ-जहाँगीरी' में उस्ताद मंसूर का कई जगह उल्लेख किया है। काश्मीर में तो ख़ास कर फूलों की कई सुंदर सुंदर तस्वीरें इस मशहूर चित्रकार द्वारा बनावई गईं। मंसूर के अनेक चित्र प्रकाशित हो चुके हैं। मुग़ल कला में मंसूर का नाम फूल और प्राणियों के चित्रकारों की श्रेणी में अनन्य है। चित्रों की विशेषता उन की स्वाभाविक प्रतिकृति में नहीं है, किंतु चित्रकार की प्रदान की हुई सजीवता में है। बहुत ही मनोहरी रेखालेखन, स्वाभाविक और अतीव सूक्ष्म रंगविधान, और एक अवर्णनीय वातावरण की उत्पत्ति—ये मंसूर की कला के विशेष गुण हैं। राजा मनोहर भी, जो अकबर और जहाँगीर के ज़माने में विद्यमान थे, मंसूर की ही श्रेणी के चित्रकार हैं। मैंने अलीगढ़ के नवाब हबीबुर रहमान ख़ाँ के पुस्तकालय में से लाल पुष्पों का एक सुंदर चित्र कई वर्ष हुए प्रकाशित किया था। उस में मंसूर ने अपने को नक़्क़ाश कह कर व्यक्त किया है। 'नक़्क़ाश' शब्द ख़ास महत्त्व का

इस कारण है कि मुग़ल ज़माने के चित्रकार इटली के १५ वीं और १६ वीं शताब्दी के मुसव्वरों की तरह प्रधानतया कारीगर थे। वे काग़ज़ पर, कपड़े पर, दीवारों पर, पत्थर पर, सभी वस्तुओं पर काम कर सकते थे। दुनिया की तवारीख़ में माईकेल एंजेलो, (Michael Angelo) बेनवेनुटो-चेलिनी, (Benvenuto Celini) राफायल (Raphael) के नाम मशहूर हैं। हमारे और ईरान के चित्रकार भी इसी तरह के कलाकार होते थे। मुग़लकाल के अप्रतिम स्थापत्य से भी उनका संबंध था। इस स्थापत्य को—उसके रंगबिरंगे फूल पत्तियों के पत्थर में खुदे हुए चित्रों को देखकर तुरन्त प्रतीति होती है कि ये चीज़ें भी शाही चित्रकारों के दिमाग़ से ही उत्पन्न हुई हैं। नक़्क़ाश का काम सृजन का था। जैसे आज भी बनारसी बर्तन और सुन्दर साड़ियों के पीछे उस चित्रविचित्र कारीगरी के असली विधायक का व्यक्तित्व छिपा हुआ है।

जहाँगीर को पशुपक्षी और पुष्प-विज्ञान से ख़ास शौक़ था। इस कारण उनके ही समय में इस प्रकार के चित्रों की परमोन्नति हुई। शाहजहाँ के ज़माने में भी ऐसे चित्र बने। परन्तु १७ वीं शताब्दी के मध्यकाल के बाद मुग़ल कला का विनिपात आरंभ हो चुका था। फिर जो कुछ इस क़िस्म के चित्र बने, वे तो ठेठ हिन्दू प्रणाली के ही चित्र थे। उनका अस्तित्व अलग नहीं रहा; जैसे शकुन्तला में सभी दुनिया एक ही मंच पर आती है, वैसे ही हिन्दू कला में मनुष्य, पशुपक्षी, और बनदेवियाँ, एक तरह से ईश्वर की सभी सृष्टि साथ ही साथ अवतरित होती है।

———

मुग़लकाल

१५ वीं शताब्दी के अंत में पुरानी इसलामी रियासतों का ह्रास हो चुका था, किन्तु हिन्दू राजस्थानों की दशा भी संतोषजनक नहीं थी। हिन्दुस्तान में एक नई संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। देश की प्रचलित भाषाओं में भक्तजन सर्व साधारण को भगवद्भक्ति का संदेश दे रहे थे। भक्ति-मार्ग की बाढ़ ज़ोरों से उमड़ रही थी। गौड़ से गौराङ्गप्रभु के भजनों की धुन मथुरा में भी यमुना-तट पर प्रतिध्वनित हो रही थी। दक्षिण में भी अनेक संतजन सर्व साधारण को ईश्वराभिमुख करने का प्रयत्न कर रहे थे। संभव है कि हिन्दुस्तान की आन्तरिक राजकीय परिस्थिति ने इस भक्ति-मार्ग को जन्म दिया हो, क्योंकि विपत्ति में ही जनता ऐसी परम्परा का आश्रय ग्रहण करती है। हिंदू सभ्यता में संघटन का शुरू से ही अभाव था, और इसलामी बादशाहत की गिरी हुई हालत में भी देश में किसी तरह की संघटन वृत्ति का उद्भव ही नहीं हुआ। फिर भी मध्यकालीन १० वीं एवं ११ वीं शताब्दी के हिन्दू राज्यों के पतन के बाद सार्वजनिक जागृति का यह पहला ही शुभ अवसर था, मानों प्रजा के जीवन में फिर से रक्त-संचार शुरू हुआ हो।

इस परिस्थिति में हिन्दुस्तान के पायेतख़्त का एक छोटे से साधारण मुग़ल सरदार के हाथ में पड़ना, यह भी विधि का एक अकथनीय विधान कहा जा सकता है। ई० सन् १४९४ में बाबर के पिता का देहान्त हुआ। उस वक़्त बाबर सिर्फ़ १२ वर्ष का था। परंन्तु इस साहसी और महत्त्वाकांक्षी बालक को बादशाहत के ही स्वप्न आते रहे। तैमूर के पट्टनगर समरकंद को जब वह अपने अधीन न कर सका तब उस ने हिन्दुस्तान की ओर देखा। ई० सन् १५२५ में पानीपत के मैदान में बाबर ने समग्र शाही सेनाओं को

परास्त करके दिल्ली का तख़्त अतुल पराक्रम से प्राप्त किया। परंतु उस का दिल तो अपनी मातृभूमि में ही था, हिन्दुस्तान की कोई भी चीज़ उसे पसन्द न आई। अपने बड़े ही रोचक आत्मवृत्तान्त में—जो तुर्की भाषा का एक अनुपम ग्रंथ है—उस ने कई जगह हिंदुस्तान की बुरी हालत का वर्णन किया है। भारत-वासियों का रहन सहन, उन का पहिनावा और उन की तहज़ीब उसे कभी पसन्द नहीं आई। देश में निर्झरों का, सुन्दर उपवनों का, रमणीय फूलों का अभाव उसे हमेशा खटकता रहा। एक दिन समरकंद के ख़र्बूज़ काटते काटते मातृभूमि की याद आ कर आँखें डबडबा गईं। बाबर की अंतिम इच्छा हमेशा अपनी ही जन्म भूमि में पुष्पित लताओं के नीचे आख़िरी नींद लेने की रही। भारत का बादशाह होते हुए भी वह भारत से अलग ही रहा। इस बहादुर बादशाह की मृत्यु भी उस के पराक्रम के उपयुक्त थी। हुमायूँ की बीमारी के समय ईश्वर को सच्चे मन से याद कर के अपनी जान के बदले में अपने पुत्र को दीर्घायु करने की प्रार्थना उस ने की। जो कुछ हो, हुमायूँ की जान बच गई और १५२६ ई० में बाबर का इन्तक़ाल हो गया।

तैमूर के सभी वंशजों को साहित्य, संगीत और चित्रकला से विशेष अभिरुचि रही। बाबर भी जब हिंदुस्तान आया तब १५ वीं शताब्दी की सुचारु-चित्रित शाहनामा की एक प्रति और पुस्तकों के साथ ही ले आया था। २०० वर्ष तक यह प्रति मुग़ल पुस्तकालय में रही, और अब लंदन की रॉयल एशियाटिक सुसायटी के पुस्तकागार में मौजूद है। बाबर ने कमालउद्दीन बैहज़ाद के चित्र स्वयं देखे थे। ईरानी क़लम का उत्कर्ष उन की आँखों के सामने हुआ था। अपनी जीवनी में ईरान के कई चित्रकारों का सुंदर वर्णन उन्हों ने किया है। बैहज़ाद के संबंध में लिखते हैं कि उन को दाढ़ीविहीन चेहरे का आलेखन ठीक नहीं आता था। बाबर के दरबार की सभ्यता बिलकुल ही विदेशी थी। उन की अवधि भी कम रही। हुमायूँ का ज़माना कठिनाइयों में ही गुज़रा। उस को अपने २६ वर्ष के बादशाही जीवन में कभी शान्ति नहीं मिली। उस के ही समय में सूर वंश का उदय और अस्त भी हो गया। जब हुमायूँ ई० सं० १५४० में ईरान के शाह तहमस्प (ई० १५२४—१५७६) के शरणागत हुआ

तब मीरसैयद अली, और ख़्वाजा अब्दुस्समद शीराज़ी नाम के दो चित्र-कारों से उस की मित्रता हुई। मीरसैयद अली बैहज़ाद का शिष्य था। उसी को उन्हों ने 'दास्ताने-अमीर-हमज़ा' के १२०० पृष्ठों को १२ जिल्द में बनाने का काम सौंपा था। यह ग्रंथ-रत्न पच्चीस वर्ष में अकबर के समय में जा कर समाप्त हुआ। उस में १४०० चित्र थे। १७८० में लिखे हुए 'मासिर-उल-उमरा' में उल्लेख है कि हमज़ानामा का चित्रण-कार्य तावरीज़ के 'नादिर-उल-मुल्क हुमायूंशाही मीरसैयद अली जुदाई' के सुपुर्द किया गया था और उन की देख रेख में अनेक देशी और विदेशी चित्रकार रक्खे गए थे। हमज़ानामा के चित्र मुग़ल कला में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं, क्योंकि वह काल संक्रान्ति का था। ईरानी क़लम की प्रतिष्ठा एशिया भर में बढ़ी चढ़ी थी। कमालउद्दीन बैहज़ाद उस समय की दुनिया का सर्व श्रेष्ठ मुसव्वर था। इन्हीं के शिष्यों द्वारा फ़ारसी चित्रकला का भारत में प्रवेश हुआ और अकबर के शासन के आरंभ काल में भारतीय और ईरानी कला का एक अजीब और अनुपम समन्वय पाया जाता है। हमज़ानामा के केवल थोड़े ही चित्र अब बचे हैं। २५ वर्ष की लगातार मेहनत के बाद मीरसैयद अली जब हज को चले गए तब हमज़ानामा का काम अब्दुस्समद के सुपुर्द किया गया। इस हमज़ानामा से ही मुग़ल कला का उद्गम हुआ जानना चाहिए।

जो संस्कृति नष्ट प्राय हो रही थी उस का पुनरुद्धार मुग़ल बादशाहों के हाथ हुआ। ई० सन् १४४२ से १४४४ तक एक शिक्षित ईरानी अब्दर रज़्ज़ाक़ ने एक कोने से दूसरे कोने तक हिंदुस्तान की यात्रा की थी। मैसूर रियासत के बैलूर के अनुपम मंदिर को देखते हुए उन्होंने लिखा है कि दीवारों पर, छतों पर, तस्वीरों की इतनी भरमार थी कि एक बालिश्त भी जगह छूटी नहीं थी, और उन सब की प्रतिकृतियाँ एक महीने में भी पूरी नहीं बन सकतीं। दक्षिण भारत के प्रायः सभी मध्यकालीन बड़े मंदिरों में चित्रावशेष मिलते हैं। कांची के मंदिरों के पुराने भित्ति-चित्र अभी थोड़े दिन हुए पुनः प्रसिद्धि में आये हैं। वेरुल वा एल्लौरा के ९ से ११ वीं शताब्दी तक के बने हुए चित्रों की प्रतिलिपि हो चुकी है। पुराने मंदिरों में चित्रण करने को

बहुत ही प्राचीन परंपरा चली आई है, और अभी तक वर्तमान है। अनहिलवाड़ पाटन के मध्यकालीन गुर्जर मंदिरों में तो रंगीन काष्ठ मूर्तियाँ भी काम में लाई जाती रहीं। पाषाण एवं धातु-बिम्बों (प्रतिमाओं) पर भी रंग-विधान के अनेक दृष्टांत मिलते हैं। परंतु उस समय चित्रकारों की पूछ राज दरबारों में कम थी। मुग़लों के शौक़ से चित्रकारों का फिर से सम्मान बढ़ा। बड़े बड़े चित्र-मंदिर खोले गये। जैसे पुराने ज़माने में देवकुलों की प्रथा चली आती रही, वैसे ही चित्रशाला की परंपरा मुग़लों ने कायम की। देवकुलों में पूर्वजों की पाषाण-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती थीं। भास के प्रतिमा नाटक में उस का विस्तृत वर्णन मिलता है। मथुरा ज़िले की माट तहसील में स्वर्गगत पं० राधाकृष्ण ने कुशान समय के पूरे देवकुल का पता लगाया था। वहाँ अनेकानेक सुंदर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जो मथुरा के अजायब घर में विद्यमान हैं। जोधपुर रियासत के पुराने राजनगर मंदिर में भी ऐसा ही पहाड़ों में से खुदा हुआ देवकुल विद्यमान है। प्रतिमागार की यह परंपरा जावा, चंपा एवं भारतीय सभ्यता के अनेक संस्थानों में प्रचलित हुई। इस प्रथा के अनुसार ही भारतीय सभ्यता के परमोत्कृष्ट नमूने जावा, चंपा और श्री विजय (सुमात्रा) के पुराने मंदिरों में उपलब्ध हुए हैं। वैसे तो चित्रागार के भी कई उल्लेख पुराने संस्कृत साहित्य में मिलते हैं और चौथी या ५ वीं शताब्दी के पादलिप्ताचार्यकृत जैन आख्यायिका 'तरंगवती' में चित्र-प्रदर्शन का भी वर्णन है। परंतु पुरानी चित्रशाला के अवशेष अभी तक प्राप्त नहीं हुए।

अब्दुस्समद ख़ां ने हुमायूँ और अकबर को चित्रकला सिखाई थी। ख़्वाजा साहब एक ख़ानदानी व्यक्ति थे, इस वजह से अकबर के ज़माने में वह शाही टकसाल के अध्यक्ष नियुक्त किये गये और आख़ीर में मुलतान के सरसूबा रहे। उन का ७० बरस की उम्र में बनाया हुआ चित्र मिलता है। उन के चित्र-नैपुण्य के लिए उन को 'शीरीं-क़लम' की उपाधि मिली थी। अकबर की चित्रशाला के वही प्रमुख उस्ताद थे। किंतु अबुलफ़ज़ल लिखते हैं कि इस मशहूर उस्ताद के चेले दशवंत और बसावन बहुत थोड़े ही काल

में उस्ताद से भी आगे बढ़ गए, बैहज़ाद की भाँति चित्रकला में प्रवीण हुए, और दुनिया के प्रसिद्ध चित्रकारों में उन की गणना होने लगी। दोनों जाति के कहार थे। दो और कहारों के नाम मिलते हैं—इब्राहीम और केशव। दशवंत के संबंध में अबुलफज़ल लिखते हैं कि दुर्भाग्य से इस अन्यारे चित्रकार ने मस्तिष्क-विकृति से आत्मघात कर लिया। दशवंत के स्वतंत्र चित्र अभी तक देखने में नहीं आये। बसावन और अन्य चित्रकारों के साथ में बनाये उन के चित्र जयपुर के रज़्मनामा में मिलते हैं। भारतीय कला के लिए केवल आश्रय और प्रेरणा की आवश्यकता थी। इसी कारण ईरानी क़लम का प्रभाव स्वप्नवत् रहा। ईरान की सभ्यता के अनुयायी बादशाहों को प्रसन्न करने के लिए अकबर के आरंभकाल में चित्रकारों ने फ़ारसी शैली के अनुकरण में कई चित्र बनाये। परन्तु जैसा कि अबुलफ़ज़ल लिखते हैं—हिन्दू चित्रकारों की विचार-सृष्टि ही अनोखी थी। उन की परम्परा ही निराली थी। थोड़े ही काल में उन्हों ने अपनी परम्परागत प्रणाली ग्रहण कर ली। फ़ारसी शैली के अनुकरण के जो चित्र मिलते हैं वह अपवादरूप हैं। हिन्दू चित्रकार भगवती की बनाई हुमायूँ की तस्वीर विदेशी शैली में बनी है। ईरानी चित्रकार की निगाह में सृष्टि एक अनुपम रंग-विधान थी। उस की रेखाएँ अरबी अक्षरों की भाँति घूमती, फैलती, नवीन रूप धारण करती एक अनन्य आभरण रूप में परिवर्तित होती थीं। उस का उद्देश्य सादृश्य-प्रतीति नहीं था। केवल रंगों की सजावट और रेखाओं का प्रवाह—इसी में फ़ारसी चित्रकला की चरम-परिणति हुई। हिन्दू चित्रकारों की दृष्टि में जगत की सब वस्तुएँ रेखा-बद्ध थीं। प्राचीन शिल्प की भाँति चित्र में भी भाव और क्रिया (गति)—इन दो वस्तुओं का प्राधान्य था। खुश-नवीसी हिन्दू चित्रकारों को प्रायः अपरिचित थी। नागरी की वर्णमाला उस के लिए उपयुक्त भी नहीं थी। इस के असंख्य नमूने रागमाला और बारामासा के चित्रों पर बहुत ही साधारण लिपि में या बुरी तरह से लिखे हुए हिन्दी छन्दों में मिलते हैं। अक्षरों की सुघरता की तरफ़ मानों हिन्दू चित्रकारों या लेखकों का रुख ही नहीं था। सुन्दर चित्रों पर की लिखी हुई वर्णमाला मानों चित्र की शोभा को कम करने को ही

बनाई गई थी। इस से बिलकुल ही भिन्न परिस्थिति फ़ारसी लिपिकारों की थी। चित्रकार के चित्रालेखन के बाद तस्वीर वसलीगर के पास भेजी जाती थी, जो चित्र को दफ़्ती पर मढ़ता था; तदुपरान्त नक़्शनवीस हाशिये को अनेकानेक रंगविधान और फूलकारी से सुशोभित करता और चित्र के नज़दीक के हाशिए को रम्य बनाता था; इस के बाद चित्र खुशनवीस के पास भेजा जाता था, जिस का काम, फ़ारसी, तुर्की या अरबी साहित्य में से सुन्दर चुनी हुई शेरों को फ़ारसी वर्णमाला में लिखने का था। इस खुशनवीसी की महत्ता इस्लामी सभ्यता में चित्र से भी अधिक थी। बड़े बड़े खुशनवीसों के नाम इस्लामी तवारीख़ में प्रसिद्ध हैं। हिरात के प्रसिद्ध कातिब मीरअली (मृत्यु ई० स० १५५८-९) सुलतानअली, काश्मीर के मुहम्मद हुसैन 'ज़र्रीक़लम', सुलतान पर्वेज का उस्ताद ग़फ़्फ़ारी, अब्दू-अल्रहीम 'अबरीक़लम', वग़ैरह के लिखे हुए 'किते' अभी तक अमूल्य हैं। फलतः मुग़ल-चित्रशाला का चित्र सर्वाङ्ग पूर्ण और सुंदर होता था। चित्रशाला में अच्छे अच्छे रंग बनाने का भी प्रबंध था। अबुलफ़ज़ल ने रंगों की सफ़ाई और उस के संबंध के नये नये नुसख़ों का विशेष रूप से वर्णन किया है। हिंदू चित्रकारों को प्रायः भित्ति-चित्रों और पट-चित्रों की प्रणाली परिचित थी। उन का रंग-विधान सादा था। ईरानी क़लम के वर्ण-वैचित्र्य से परिचित बादशाहों को भारतीय रंग-विधान पसंद नहीं आ सकता था। फ़ारसी चित्रकला का सब से भारी असर हिन्दुस्तान के चित्रकारों के रंग-विधान पर पड़ा। इस कारण भारतीय चित्रों का रंग खिल उठा, यह कहने में ज़रा भी शक़ नहीं है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मुग़ल कुतुबख़ानों में ईरान के बैहज़ाद, आग़ा मिराक़, सुलतान मुहम्मद और मुज़फ्फर अली जैसे प्रसिद्ध चित्रकारों की कृतियाँ मौजूद थीं, जो शाही चितेरों की नज़र में ज़रूर आई होंगी। हमज़ानामा के कपड़े पर बने हुए चित्रों के संबंध में श्री पर्सी ब्राउन ने लिखा है कि अच्छे काग़ज़ की हिंदुस्तान में कमी होने के कारण ये चित्र कपड़े पर बनाए गए। किंतु १२ वीं से १४ वीं शताब्दी के सहस्रों की संख्या में काग़ज़ पर लिखे हुए ग्रंथ जैन भंडारों में अभी तक विद्यमान हैं। हिंदुस्तान में अहमदाबाद, कालपी, काश्मीर, नैपाल, दौलताबाद आदि

अनेक स्थानों का काग़ज़ अभी तक प्रसिद्ध है। वास्तव में कपड़े पर बनाये हुए चित्रों की परंपरा बहुत प्राचीन है। 'वसन्तविलास' और सम्प्रति Indian Art and Letters में मेरा प्रकाशित किया हुआ 'पंचतीर्थ' १५ वीं शताब्दी की चित्रकला के उदाहरण रूप हैं। लंबे ग्रंथ के लिए कपड़ा काग़ज़ से अधिक उपयुक्त था। मेरा अनुमान है कि 'हमज़ानामा' के चित्र बड़े होने के कारण ही कपड़े पर बनाए गए थे। "कथासरित्सागर" में दीवारों पर चित्रित पटों के चिपकाने की आधुनिक प्रथा का भी उल्लेख है।

अकबर की चित्रशाला में काश्मीर, लाहौर और गुजरात से चित्रकार बुलाए गए थे। इस ज़माने में चित्र एवं संगीत कला का केंद्र गुजरात में होना संभव है, क्योंकि अकबर के दरबार के सभी गुजराती चित्रकार अपने नाम के पीछे 'गुजराती' अवश्य लगाते हैं। ६ गुजराती चित्रकारों के नाम अकबरनामा में मिलते हैं। गुजरात की लड़ाई में अकबर जगन्नाथ, साँवलदास और ताराचंद चितेरों को अपने साथ ले गया था। मुग़ल बादशाहों को अपने पराक्रमों के इन अनुपम इतिहासलेखकों को साक्षी-रूप रखने का ख़ास शौक़ था। बाबरनामा, दाराबनामा, अकबरनामा, जहाँगीरनामा, शाहजहाँनामा के सभी चित्रों में मुग़ल वैभव का, और उस ज़माने की लड़ाइयों का, दरबारों का, शिकार का—सभी राजकीय घटनाओं का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

ई० सन् १५५९ में अकबर ने फतेहपुर-सीकरी का शिलान्यास किया, और १५८५ में इस नई यक्षनगरी का त्याग भी कर दिया। सीकरी के जामी मस्जिद के सिंहद्वार पर लेख खुदा हुआ है कि 'हे ईसू! यह तो पुल की भाँति है। यहाँ आशियाँ के लिए स्थान नहीं है!' मानों सीकरी के भविष्य को उद्बोधन करते हुए ही ये शब्द अंकित किये गये हों; क्योंकि मरने के पहले उस के बाद एक ही दफ़ा अकबर ने फिर सीकरी का दर्शन किया। सीकरी के प्रासादों की दीवारों पर अनेकानेक चित्र बने। अकबर सच्चा भारतीय था। उस के ज़माने में भारतीय संस्कृति की छटा खिल उठी। पुरानी परंपरा के अनुसार हज़ारों चित्र बने। संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रंथ चित्रविभूषित हुए। मकतूबख़ाँ की अध्यक्षता में शाही पुस्तकालय २४००० हस्तलिखित चित्रित पुस्तकों से

समृद्ध बना। फैज़ी की मृत्यु के बाद (ई० स० १५९५) उस के पुस्तकालय में से ४३०० चुनी हुई हस्तलिखित पुस्तकें शाही कुतुबख़ाने में रक्खी गईं। मुग़ल-साम्राज्य के पतन तक यह पुस्तकालय देश की एक अजीब विभूति रही। अब भी मुग़ल पुस्तकालय के शानोशौकत के चित्रित अवशेष दुनिया के सभी सभ्य देशों के संग्रहालयों में मिलते हैं। पुस्तकालय के साथ चित्रशाला भी थी। इसी में प्रसिद्ध जैनगुरु हीरविजय सूरि, जिन को अकबर ने 'जगद्गुरु' की उपाधि प्रदान की थी, बुलाए गए थे। देवविमलगणि कृत 'हीरसौभाग्यविजय' नाम के महाकाव्य में इस घटना का उल्लेख है। चित्रशाला में क़ालीन बिछा हुआ था। इस का अति ही रोचक वृत्तांत मुनि जिनविजय द्वारा संपादित शांतिचंद्र प्रणीत 'कृपारसकोश' में है। (देखो पृ० १०) क़ालीन पर पैर देने से हीरविजय सूरि हिचके। तब अकबर को कुछ आश्चर्य हुआ। सूरिजी ने कहा कि क़ालीन के नीचे कोई जीवजंतु है, जिस से हिंसा की संभावना है, और ऐसी परिस्थिति में 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्'—देख कर साधुओं को चलना चाहिए।

फतेहपुरसीकरी छोड़ने के बाद आगरे में और फिर लाहौर में अकबर ने निवास किया। लाहौर के प्रासाद में और उसी भांति सिकन्दरा में की भव्य समाधि में भी जहाँगीर ने भित्ति-चित्र 'लिखवाये', जिन को ई० सन् १६९१ में आततायियों ने नाश कर डाला और जो बचे उन पर आलमगीर ने चूना पुतवा दिया।

'आइनेअकबरी' में अबुलफ़ज़ल १३ प्रसिद्ध चित्रकारों के नाम लिखता है —

केशव, लाल, मुकुन्द, मिसकीन, फरुख़बेग, माधौ, जगन्नाथ, महेश, खेमकरन, तारा, साँवला, हरिवंश और राम। इन सभी चित्रकारों के चित्र अकबर के समय में बने हुए चित्रित ग्रंथों में मिलते हैं। बादशाहों को चित्रों से इतना प्रेम था कि एक केशवदास नामी चित्रकार का दिया हुआ मुरक़्क़ा अभी तक जर्मनी में विद्यमान है। केशवदास का चित्र Goetz and Kühnel गोयत्स और क्युह्नल ने अपने Indian Book-Painting में (ई० स०

१९२६) प्रकाशित किया है। केशवदास के हाथ में एक लिखा हुआ पट है जिस में निम्नलिखित शब्द पढ़े जाते हैं :—"सिधि श्री जलालउद्दीन पातशाही चिरंजीव। संवत् १६४६ पौष सुदी नौमी लिखित केशवदास चित्रकार।" इस मुरक्क़े में जहाँगीर के समय के भी कई चित्रकारों के चित्र हैं। सब से मार्के की वस्तु यूरोपीय चित्रों की प्रतिकृतियाँ हैं। बाइबिल की कई घटनाओं के चित्र इस में बने हैं। यूरोपीय यात्रियों से भी बादशाह ने पाश्चात्य चित्रों का संग्रह किया था। किन्तु जैसे जहाँगीर को पाश्चात्य तैलचित्रों से अभिरुचि नहीं हुई वैसे ही जलालुद्दीन अकबर को भी पाश्चात्य चित्रों का मोटा काम पसन्द नहीं आया। अकबर के ज़माने के अनेक ग्रंथ अभी तक विद्यमान हैं। बाबरनामा, दाराबनामा और ख़मसा-इ-निज़ामो ब्रिटिश म्यूज़ियम में; तैमूरनामा बाँकीपुर की ख़ुदाबख़्श लाइब्रेरी में; रज़्मनामा जयपुर के पोथीख़ाने में; अनवार-इ-सुहेली रॉयल एशियाटिक सुसाइटी में और एक नक़ल ब्रिटिश म्यूज़ियम में; 'लैला मजनूं' इंडिया आफ़िस में और 'बहारिस्तान-ए-जामी' बॉडलियन लाइब्रेरी आक्सफोर्ड में विद्यमान हैं। इन के अतिरिक्त भी कई ग्रंथ मिलते हैं। अकबर के ज़माने में ही रागमाला और बारामासा के चित्रों की उत्पत्ति हुई। रज़्मनामा का चित्रण-कार्य ई० सं० १५८२ के लगभग दशवंत, बसावन और लाल के सुपुर्द किया गया था। उन्हों ने शाही चित्रशाला के अन्य चित्रकारों के साहाय्य से यह भारी काम ई० सन् १५८८ के लगभग पूरा किया। अकबर के शासनकाल के प्रारंभ के चित्रों में प्रायः एक से अधिक चित्रकार मिल कर ही आलेखन करते थे। यह प्रथा १६ वीं शताब्दी के अंत में क़रीब क़रीब लुप्त हो गई और जहाँगीर के समय में तो स्मरणावशेष ही रही।

चित्रकला के अभ्यासियों के लिये यह भी उल्लेखनीय है कि ई० सन् १५९१ में जलालउद्दीन अकबर ने दरबारियों के लिए दाढ़ी रखने का निषेध किया था। इसी कारण सोलहवीं शताब्दी के अन्त में बने हुए मुग़लचित्रों में दाढ़ी का अभाव पाया जाता है। यह निषेध जहाँगीर के काल तक क़ायम रहा। ई० सन् १६१४ में जहाँगीर ने दरबारियों के लिए बाली पहनने की प्रथा क़ायम

की। यह प्रथा अजमेर की दरगाह शरीफ़ के यात्रा के बाद उन्हों ने क़ायम की थी। जहाँगीर के ज़माने की तसवीरों में बादशाह एवं राजगण बाली पहने हुए दिखाई पड़ते हैं। ये छोटी बातें मुग़लचित्रों के कालनिर्णय के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। जर्मन विद्वान गोयत्स (Goetz) ने तो मुग़लचित्रों का काल निर्णय पोशाक के परिवर्तन पर निश्चित किया है। पोशाक का परिवर्तन एक महत्त्व की वस्तु होते हुए भी कालनिर्णय निश्चित करने के लिये पर्याप्त अथवा एकमात्र या अकाट्य साधन नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भारत में वेश भूषा की विविधता हमेशा से रही है। एक ही समय में अनेक काल के अनेक देशों की पोशाक हिन्दुस्तान में जैसे आज दृष्टिगोचर होती है, वैसे ही मुग़लकाल में भी अवश्य होती होगी, और यह तर्क उस काल के चित्रों से भी साबित होता है।

राय कृष्णदास ने अकबर काल का हिंदू पहनावा और उस की परम्परा पर एक महत्त्व का लेख प्रकाशित किया है। उन्हों ने ठीक ही लिखा है कि "अकबर के समय में मुग़लों की पोशाक में एकबारगी परिवर्तन हो गया। उस समय का दरबारी पहनावा था—सिर पर लटपटी पाग, तन पर घुटने तक वा उस से कुछ नीचा जामा और पैर में पैजामा, कमर में पटका (कमरबंद) और कभी कभी ऊपर से दुपट्टा भी रहता, जिस के छोर बायें कंधे से आगे पीछे लटकते रहते और मध्य-भाग दाहिनी कमर पर से सेल्ही की तरह छाती पर होता हुआ, कंधे पर जा पहुँचता। तत्कालीन हिंदुओं का भी साधारणतः यही वेश था।"

अकबर के काल से मुग़ल चित्रों में भारतीय पोशाक का दर्शन होता है। पाजामा और चोला इसी देश की प्रचलित वस्तुएँ थीं।

जहाँगीर भी अपने महान् पिता के रंग में रँगे हुए थे। चित्रों से इन का बहुत ही अधिक अनुराग था। फिर जहाँगीर एक राजपूतानी के पुत्र थे। 'तुजूक-इ-जहाँगीरी' में चित्रकारों के विषय में उन्हों ने जितना विस्तार से लिखा है, उतना हिन्दुस्तान के इतिहास में किसी स्थान में भी नहीं मिलता। जहाँगीर को चित्र-परीक्षा का इस हद तक दावा था कि अनेक चित्रकारों के हाथ से

बने हुए एक ही चित्र में से सबों के अलग अलग व्यक्तिगत हिस्से वह पृथक् कर सकता था; और बता सकता था कि किस ने कितना अंश बनाया है। सफ़र में भी हमेशा मुसव्वर उस के साथ रहते ही थे। काश्मीर में उस्ताद मंसूर की क़लम से अनेकानेक पशुपक्षियों और फूलों के चित्र उस ने बनवाये। बिशनदास को शाहअब्बास की तस्वीर बनाने के लिए जहाँगीर ने ईरान भेजा था। इसी चित्रकार के विषय में उन्होंने लिखा है कि शबीह बनाने में वह अनन्य था। अबुल हसन से उन को विशेष प्रेम था, क्योंकि वह ख़ानाज़ाद (दरबार में पला हुआ) था। अबुल हसन अपने पिता और ईरानी कला के अंतिम प्रतिनिधि आक़ा रज़ा से अधिक निपुण था। अकबर के ज़माने के अनेक मशहूर मुसव्वर लाल, साँवला, मुहम्मद नादिर, फरुख़बेग, मुहम्मद मुराद, राजा मनोहर जहाँगीर के समय में भी काम करते रहे। फरुख़बेग की क़लम हमेशा न्यारी ही रही। वह मध्य एशिया के निवासी कालमक थे। मुग़ल चित्रकारों में फरुख़ जैसे बहुत ही कम चित्रकार रहे कि जिन के व्यक्तित्व को उन की कला से प्रेक्षक तुरंत पहिचान सके। समरकंद के मुहम्मद नादिर और मुहम्मद मुराद 'स्याह-क़लम' के उस्ताद थे। जहाँगीर के समय में गोबर्द्धन नाम का एक प्रसिद्ध चित्रकार रहा जिस के बनाये अतीव सुन्दर कई दरबार-दृश्य मिलते हैं। मुग़ल-काल के दो एक को छोड़ कर क़रीब क़रीब सभी चितेरों के नामों के सिवा और कुछ भी बातें हमें ज्ञात नहीं हैं। जैसा सर टॉमस रो ने लिखा है कि, ये कलाकार आख़िर कारख़ाने के कारीगर ही तो थे। इन के व्यक्तित्व के इतिहास की किसे फ़िक्र पड़ी थी, और किसे आवश्यकता थी। जहाँगीर यूरोपीय चित्रकला से भी परिचित था, जैसा 'तुज़ुक-इ-जहाँगीरी' और अंग्रेज़ राजदूत सर टॉमस रो के विवरण से पता चलता है। यूरोपीय चित्रों की कई नक़लें अकबर एवं जहाँगीर के समय में बनीं। अकबर को विविध सम्प्रदायों से विशेष दिलचस्पी थी, यहाँ तक कि (Jesuit Fathers) कैथोलिक पादरियों को, विशेष करके मोंसेराट (Monserrate) को बादशाह को ईसाई बना लेने की बहुत ही उम्मीद थी। जैनों ने तो यहाँ तक माना है कि हीरविजय सूरि द्वारा बादशाह जिन-शासन के अनुगामी हो गये थे। पारसी धर्मगुरु दस्तुर मेहरजी राना के असर से अकबर सूर्योपासना

करते और शाम को दीपदर्शन के समय खड़े हो कर वंदना करते थे। यह प्रथा ई० स० १५८० में आरंभ हुई थी। जहाँगीर को दर्शनशास्त्र से कोई अनुराग नहीं था। किंतु उन्हों ने भी अपने पिता की परिपाटी के अनुसार जैन एवं बल्लभ संप्रदाय के गुरुजनों को अनेक परवाने दिये, जिन में से कुछ अभी तक जैन-भंडारों में और नाथद्वारा के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। शाही चित्रकार शालिवाहन का सन् १६१० का बनाया हुआ चित्रपट मेरी Studies in Indian Painting नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है। यह चित्रपट ऐतिहासिक एवं कलात्मक दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। ई० स० १५१२ में हीरविजय सूरि ने जिन शासन के अनुसार अनशन से प्राणत्याग किया था। इन के शिष्य विजयसेन सूरि भी प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इन का और इन के दो शिष्य–विवेकहर्ष और हृदय-हर्ष के चित्र इस चित्रपट में दिये हैं। ई० स० १६१० के शाही फर्मान से पर्युषणा के आठ दिनों के लिये पशुवध निषिद्ध किया गया था।

जहाँगीर को अपने प्रसिद्ध चित्रकारों को अनेक उपाधियों से विभूषित करने का ख़ास शौक था। किसी को 'उम्दात-अल-मुसव्वरीन' (चित्रकार शिरोमणि) किसी को 'नकवात-अल-मुहर्ररीन' (लेखक शिरोमणि) की उपाधियाँ दे रक्खी थीं। मंसूर को 'नादिर-उल-असर' (युग शिरोमणि) और अबुलहसन को 'नादिर-उल-ज़माँ' की उपाधि प्रदान की गई थी। मुल्ला मीरअली की लिखी और मंसूर की चित्रित की हुई यूसुफ़ और ज़ुलेख़ा की प्रति हिंदी के प्रसिद्ध कवि ख़ानख़ाना अब्दुल रहीम ने हि० स० १०१९ में अकबराबाद में जहाँगीर को भेंट की थी, जो अब बाँकीपुर की ख़ुदाबख़्श लाईब्रेरी में मौजूद है। अकबर और जहाँगीर के ज़माने में दरबार के बड़े बड़े उमरावों ने शाही दृष्टांत का अनुकरण कर के अपने यहाँ भी मुसव्वर रक्खे और चित्रित ग्रंथ बनवाये। ख़ानख़ाना अब्दुल रहीम ने पहले पहल अहमदाबाद में अपना ग्रंथ-संग्रह शुरू किया था। मुल्ला अब्दुलबाक़ी नहाबन्दी की बनाई हुई 'मासर-उल-रहीमी' से जान पड़ता है कि ख़ानख़ाना ने कई चित्रकारों को आश्रय दिया था। रहीम के पुस्तकालय का रागिनियों के चित्रों का एक

सम्पूर्ण मुरक़्क़ा नवाब साहब रामपुर के पुस्तकालय में अभी तक विद्यमान है।

शाहजहाँ के ज़माने में तो मुग़ल शाहनशाहत का वैभव चरमसीमा पर पहुँचा। अभी तक सर्वसाधारण की धारणा थी कि जहाँगीर के समय में मुग़ल चित्र-कला का परमोत्कर्ष हुआ, और शाहजहाँ के समय में उस का ह्रास आरंभ हो गया। किंतु अब शाहजहाँ के ज़माने के अनेकानेक चित्र देखने से सिद्ध होता है कि जैसे उस समय स्थापत्य के क्षेत्र में मुग़लकला अपने संपूर्ण प्रकाश से खिल उठी, वैसे ही चित्रकला में भी बिचित्तर (विचित्र ?), अनूपचतर, होनहार, बालचंद, कल्याणदास उर्फ़ चित्तरमन की कोटि के उत्कृष्ट चित्रकार इस के पहले बहुत कम हुए। विशेष कर बिचित्तर के चित्र बड़े ही अनोखे हैं और मैं समझता हूँ कि इस के बराबर का कोई चित्रकार मुग़ल काल में हुआ ही नहीं। बिचित्तर के चित्र अभी तक केवल लंदन के साउथ केंसिंग्टन म्यूज़ियम में मि० चेस्टर बीटी के, और पैरीस के लुव्र के संग्रहालय में और शायद ब्रिटिश म्यूज़ियम में, उपलब्ध हैं। उस के सभी चित्र प्रकाशनीय हैं। बिचित्तर ने सभी क़िस्म के चित्र बनाए और उस के चित्रों में एक विशेष असाधारण स्फूर्ति और व्यक्तित्व की झलक पाई जाती है। शाही चित्रशाला के प्रधान अध्यापक मुहम्मद फकीर उल्लाख़ाँ थे। उन की अध्यक्षता में चित्रों के बहुत ही सुंदर सुरंगी और चित्रित पुट्ठे तैयार किए गए। कभी कभी तो हाशिए के चित्र इतने अच्छे और उच्चकोटि के होते हैं कि इन के कारण प्रधान चित्र कुछ फीके से पड़ जाते हैं। नक़्शनवीसों की कारीगरी का यह विलक्षण ज़माना था। इन छोटे पुस्तिका-चित्रों की बनावट भी ताजमहल, एतमादुद्दौला और शाही इमारतों की दीवारों पर बनी हुई नक़्क़ाशी की तरह ही अतीव मनोहारिणी होती थी। मुहम्मद फ़क़ीरउल्लाख़ाँ का मीर हाशिम नाम का एक प्रवीण सहायक चित्रकार था, जिस की भी अनेक कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। होनहार और अनूपचतर के 'स्याह-क़लम' बहुत ही सुंदर होते थे। परंतु बिचत्तर की कोटि का कोई भी चित्रकार नहीं था। सब से अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि इस अद्वितीय चित्रकार की कृतियाँ अभी थोड़े वर्ष हुए तब मिली हैं। इस की रचनाओं में मुग़ल चित्रकला की सम्पन्नता का यथार्थ दर्शन होता है। शाह-

जहाँ के समकालीन फ्रेंच यात्री और जौहरी ट्रैवर्नियर ने अपने प्रवास-वर्णन में लिखा है कि चित्रकारों के साथ जैसा बर्त्ताव होता था वैसी दशा में कला का उद्भव ही असंभव था। मालूम होता है कि कलाकार भी उमरावों और मनसबदारों की बेगार में पकड़े जाते थे। वेतन के स्थान पर कभी कभी कोड़े की मार भी उन्हें प्रदान की जाती थी। राज्य-व्यवस्था कुछ ढीली सी हो रही थी। समृद्धि और विलास की मात्रा में अंधेर की भी मात्रा बढ़ चली थी। अवनति के चिह्न अभी से दिखाई दे रहे थे। इसी ज़माने का बना हुआ प्रसिद्ध मुरक्क़ा, जिसे शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने अपनी बेगम नादिरा को विवाह के अवसर पर भेंट किया था, इंडिया आफ़िस के पुस्तकालय में अभी तक विद्यमान है। उस में १८ फूल और पत्तियों के चित्रों के साथ ३५ शबीह, एक यूरोपीय तस्वीर की नक़ल, और ५ फ़ारसी शैली के चित्र हैं। इस मुरक्क़े के कई चित्र जहाँगीर के ज़माने के भी बने हैं। मंसूर की कलम के कई सुंदर चित्र इस पुस्तिका में पाये जाते हैं। फूलों के चित्रों से मंसूर की 'नक्क़ाश' की उपाधि चरितार्थ होती है। मुग़ल चित्रकारों में दो और चित्रकार बाबू और हुसैन अपने को नक्क़ाश कहते हैं। इन के चित्र अकबर-नामा में मिलते हैं, जो साउथ केन्सिंग्टन म्यूज़ियम में मौजूद है। संभव है कि ये लोग परंपरा के नक्क़ाश रहे हों, क्योंकि अकबर के ज़माने में भी अधिकांश चित्रकार कहार, राज और कायस्थ की क़ौम के थे। चित्रों के अतिरिक्त ५ सुंदर रंगीन किते भी इस पुस्तिका में हैं।

नादिरा बेगम सुलतान परवेज़ की दुहिता थी। सात बरस की उम्र में उस का विवाह हुआ, तब २६-२७ वर्ष की उम्र के दाराशिकोह ने यह सुंदर पुस्तिका सन् १६४१ में उसे भेंट दी थी। चार चित्रों पर तारीख़ दी हुई है। सब से पुराना चित्र नं० ६२ बी, हिरात का बना हुआ, सन् १४९८ का है। बाक़ी सन् १६०५ और '०६ के हैं। चित्र एक से एक बढ़ कर हैं। क्या ही अच्छा होवे जो ब्रिटिश सरकार द्वारा इन का उपयुक्त संपादन और प्रकाशन हो। मुग़ल चित्रकला के गौरव का यह एक अनुपम स्मारक है। जहाँगीर के ज़माने का शाह अब्बास को दिया हुआ मुरक्क़ा जर्मनी से Indian Book-

Painting नाम से प्रकाशित हो चुका है। दारा का मुरक़्क़ा इस से कम महत्त्व का नहीं है।

शाहजहाँ के शासन काल की समाप्ति के साथ मुग़लकला का भी गौरव घटता गया। औरंगज़ेब के काल में चित्रकार काम करते रहे, परंतु अकबर और जहाँगीर की तरह उन को वह उत्तेजन नहीं मिला। कहा जाता है कि ग्वालियर के क़िले में जब औरंगज़ेब के कई भतीजे बंदी रहे तब उन की प्रति मास की अवस्था का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए औरंगज़ेब उन की हर महीने तस्वीर खिंचवाया करता था, जिस से उसे अफीम के पोस्ते के प्याले का—जो हर रोज़ इन राजबंदियों को दिया जाता था—असर बराबर मालूम होता रहे। मुग़ल चित्रकार की सूक्ष्म कारीगरी के दुरुपयोग का यह एक ज्वलंत उदाहरण है। औरंगज़ेब इस विषय में २० वीं शताब्दी का वैज्ञानिक शासक था, क्योंकि विज्ञान का सब से भारी उपयोग तो इस वक़्त प्रजाओं के नाश के लिए ही होता है। औरंगज़ेब चित्रकला से कुछ उदासीन ही था। परंतु उस के शासन काल में मुग़ल चित्रशालाएँ क़ायम रहीं और विशेष कर के मुग़ल दरबारियों और दक्षिण के बीजापुर और गोलकुंडा के दरबारों में चित्रकारों को आश्रय मिलता रहा। इसी कारण १७ वीं शताब्दी के अंत के अनेकानेक ऐतिहासिक चित्र मिलते हैं। आलमगीर के समय की राज्य-घटनाओं की तस्वीरें—विशेष कर के उन की अनेक अवस्थाओं में खींची गई शबीहें—उपलब्ध होती हैं। आलमगीर के ज़माने में मुग़ल-साम्राज्य का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हुआ। परंतु इस विस्तार में ही इस अद्भुत साम्राज्य का विलय भी छिपा हुआ था। सन् १७०७ में औरंगज़ेब का देहान्त हुआ। ४० वर्ष के अंदर अंदर तो विशाल मुग़ल साम्राज्य के टुकड़े टुकड़े हो गये। शाही वैभव का जो मध्याह्न सूर्य अकबर के ज़माने में पूर्ण तेज से तपता था, वह औरंगज़ेब के मरने के बाद ही अल्पायु संध्या के समान अस्त हो चला। अच्छा ही हुआ कि मुहम्मदशाह बादशाह ने अकबर के आदेश से बनी हुई रज़्मनामा की जिल्दें जयपुर महाराज को भेंट दे दीं। अन्यथा जिस प्रकार शाही पुस्तकालय और शाही पुस्तकों के खंड खंड हो गये और ग्रंथों के पन्ने दुनिया के कोने कोने में बिखर गये,

उसी तरह 'रज़्मनामा' के भी नायाब पन्ने न जाने कहाँ होते। नादिरशाह के आगमन के थोड़े ही वर्ष पूर्व 'रज़्मनामा' अपने सुरक्षित स्थान में पहुँच गया। मुहम्मदशाह के ज़माने में मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत के अनेक चित्र बने, परंतु मुग़ल कला क्षीण हो चुकी थी। शाहनशाहत के कलेवर में प्राण नहीं था। इसी कारण १८वीं शताब्दी के आरंभ से मध्य तक के जो चित्र मिलते हैं, वह कुछ चेतना-विहीन से होते हैं। साम्राज्य के केन्द्र में कला की जब अवनति हुई तब प्रांतीय केन्द्रों में उस का विकास हुआ। जो कला दिल्ली के क़िले की चहारदीवारी में बँधी हुई थी वह अपने सुनहरी पिंजड़े से छूटते ही विपन्नावस्था में भी एक नवीन सजीवता से पल्लवित हो उठी। पूना के राज्य-दरबार में अनेक चित्रकार रहे। मरहठों के आश्रय में भी अनेक सुंदर चित्र बने, किंतु उन का अभी तक विधिपूर्वक अध्ययन नहीं हुआ है। मरहठों के ज़माने की चित्रकला के कई सुंदर उदाहरण ब्रिटिश म्यूज़ियम में विद्यमान हैं। रागमालाओं के चित्र ख़ास कर के दर्शनीय हैं। ई० स० १७५० तक मुग़ल कला का कुछ अस्तित्व रहा। इस ज़माने के मेहरचंद नाम के चित्रकार के कई चित्र मिलते हैं। वे अपनी वर्णसंकरता और निर्जीवता के लिए ही उल्लेखनीय हैं। वैसे तो मुग़ल परंपरा अवध के नवाबी ज़माने के अंत तक रही, किंतु १९वीं शताब्दी के मुग़ल चित्र ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्व के हैं। वे अतीत की एक गिरी हुई सभ्यता के केवल स्मरण चिह्न हैं। दिल्ली की हाथी दाँत पर बनी हुई तस्वीरें भी इसी शाही परंपरा का अनुकरण हैं। पर ये वस्तुएँ कला की सामग्री नहीं हैं, केवल बाज़ारी चीज़ें हैं। सिर्फ़ आश्चर्य इतना ही है कि औरंगजेब की मृत्यु के बाद भी इतने बरसों तक मुग़ल कला की यादगार बनी रही।

———

हिंदू चित्रकला

मुग़ल शासन भारतीय सभ्यता के इतिहास का एक ज्वलंत प्रकरण है। इस युग में पुरानी परंपराओं का जीर्णोद्धार एवं परिष्कार हुआ। परंतु फिर भी लोकजीवन से शाही-कला भिन्न रही।

प्रांतीय कला

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद शाही-चित्रकारों की दशा गिर गई, और उन्हों ने प्रांतीय दरबारों में आश्रय ढूँढ़ा। इन चित्रकारों ने हिंदू चित्रकला की परंपरा को फिर से सजीव किया। जो मुसव्वर अभी तक आखेट के, राजदरबारों के और शाही तमाशों के दृश्यों का आलेखन करते रहे, उन्हों ने श्रीमद्भागवत, रामायण, महाभारत, नलाख्यान, मझ्झन कृत (१५०९-१५३८) मधु-मालती*, सुंदरशृंगार, बिहारी सतसई, मतिराम का रसराज, केशव की रसिकप्रिया, जयदेव का गीत-गोविंद, देवी-माहात्म्य, हमीरहठ इत्यादि अनेक लोकप्रिय ग्रंथों के चित्रित अनुवाद किए। इस कला में लोकजीवन का सच्चा प्रतिबिंब था। चित्रकारों ने एक तरह से अपने ही जीवन के भाव कला द्वारा व्यक्त किए। इस कला का ध्येय और उस की प्रणाली मुग़ल कला से निराली थी। मुग़ल दरबार के प्रचुर साधन एवं ऐश्वर्य छोटे छोटे दरबारों में उपलब्ध नहीं थे। वसलीगर, नक़्श-नवीस, खुशनवीस आदि अन्यान्य व्यक्तियों के लिए इस प्रांतीय कला में बहुत स्थान नहीं था। इसी कारण यह १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के मध्य तक की कला बाह्याडंबर से एक प्रकार से विमुक्त सी रही। इस कला की परंपरा

---

* जिस की १७८० ई० की चित्रित प्रति भारत-कला-भवन काशी में विद्यमान है।

१६ वीं शताब्दी के अंत से तो बराबर मिलती है। इस समय के चित्र अधिकतर रागमालाओं के मिलते हैं। कुछ चित्र १७ वीं शताब्दी के भी प्राप्त हुए हैं।

हिंदू कला

किन्तु हिंदू चित्रकला का पूरा विकास तो १८ वीं शताब्दी के मध्य से ले कर १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। इस चित्रकला का नाम डा० आनंदकुमारस्वामी ने पहले पहल राजपूत कला रक्खा था। इसी नाम से आज भी राजपूताने के, बुंदेलखंड के, पंजाब के, एवं काश्मीर के चित्र परिचित हैं। यह नाम एक तरह से उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इन सब प्रांतीय कलाओं में अनेक विभिन्नताएँ पाई जाती हैं, और फिर केवल राजपूत राजाओं के आश्रय के कारण इस कला का नाम राजपूत कला रखना भी उचित नहीं है। यह तो सर्वमान्य बात है कि यह कला प्राचीन हिंदू कला की परंपरा के अनुसार रही। इस कारण मेरा मत तो यह है कि इस कला को हिंदू कला के नाम से ही संबोधित करना चाहिए। हिंदू प्रणाली के इतिहास में मुग़ल कला एक पृथक् प्रकरण रूप ही रही और इस को मुग़ल कला के नाम से संबोधित करना यथार्थ है। 'हिंदू' शब्द के मुक़ाबले में 'मुसलिम' शब्द का व्यवहार बिलकुल ही असंगत है, क्योंकि मुसलिम संस्कृति कोई स्वतंत्र अथवा पूर्णतया विदेशी वस्तु नहीं थी, वरन् हिंदू संस्कृति का एक दूसरा स्वरूप वा रूपांतर मात्र थी। जैसे कुशान शिल्प भारतीय शिल्प का अविच्छिन्न अंग है, वैसे ही मुग़लकालीन आलेखन भी भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक अपरिहार्य प्रकरण है। भारतीय सभ्यता की पाचनशक्ति आरंभ से ही कुछ अनोखी रही। इसी कारण नई सभ्यताओं का विशिष्ट प्रभाव चिरस्थायी नहीं रहा। देशकाल के अनुसार जो अंश ग्राह्य थे वे भारतीय सभ्यता में घुल मिल गए। जैसे मौर्य शिल्प से, गांधार कला के असर के होते हुए भी, कुशान शिल्प का क्रमानुक्रम संबंध है, वैसे ही ईरानी उस्तादों के मौजूद रहते भी मुग़ल काल में भी भारतीय चित्रकला की शृंखला टूटी नहीं। अकबर के ही काल में, २५ वर्षों के ही भीतर, मुग़ल काल की शाही-कला की विजातीयता मिट कर वह भारतीय बन गई। मुग़ल काल के मुसव्वरों में तीन चौथाई

कलाकार हिंदू जाति के थे। मुग़ल कला का विशेष स्थान उस की विशेषताओं पर, उस के रंग-विधान पर, उस के ऐतिहासिक महत्त्व पर, और उस के संकुचित विषय-क्षेत्र पर अवलंबित है। इन्हीं कारणों से मुग़ल-चित्र हिंदू-चित्र से कुछ अलग पड़ता है, और थोड़े ही अनुभव के बाद एक को दूसरे से पहिचानने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती। मुग़ल चित्रकारों ने जब

हिंदू कला के लक्षण

रागमालाओं के चित्र बनाए तब भी उन में वह कोमलता और मार्दव नहीं आया, जो ठेठ हिंदू चित्रों में पाया जाता है। इस का कारण यह नहीं था कि चित्रकार के मानस में कुछ विभिन्नता थी। बात केवल यह थी कि ज़माने का तर्ज़ ही कुछ दूसरा था। जैसे एक ही गायक ध्रुपद और ख़्याल दोनों गाता है, परंतु रुचि के अनुसार किसी एक प्रणाली में पारंगत होता है, वैसे ही मुग़ल-चित्रकारों ने प्रतिबिंब-चित्र बनाने में अद्भुत नैपुण्य प्राप्त किया। अपने संकुचित क्षेत्र में उन्हों ने अद्वितीय काम दिखाया। फिर भी ये सब चित्रकार आख़िर भारतीय सभ्यता के रँग में रँगे हुए थे। ईरान के सुंदर वर्ण-वैचित्र्य से मुग्ध हुए बादशाहों को ख़ुश करने के लिए बहुत ही मनोरम रंगीन चित्र मुग़ल काल में बने। परंतु आसन, मुद्रा, भाव इन सभी विषयों में पुराने शिल्प-शास्त्रों के असर का प्राधान्य रहा। चित्रसूत्रकार ने शबीह के लिए नौ प्रकार के 'स्थानों' का वर्णन किया है—

(१) ऋज्वागत
(२) अनृजु
(३) साचीकृतशरीर
(४) अर्द्धविलोचन
(५) पार्श्वागत
(६) परावृत
(७) पृष्ठागत
(८) परिवृत्त
(९) समानत

'चित्रसूत्र' की भाँति 'शिल्परत्न' में भी श्रीकुमार ने नौ ही 'स्थानों' का वर्णन किया है। भारतीय चित्रों में प्रायः 'अर्द्धविलोचन' अथवा 'एक चश्म' तस्वीर ही मिलती है, और इसी आसन में शरीर का तीन चौथाई हिस्सा चित्रकार दिखा सकता है। प्राचीन परिपाटी का यह एक नियम था कि व्यक्तियों के शरीर का अधिक से अधिक हिस्सा यथासंभव दिखाना चाहिए। इसी कारण संमुख-चित्र बहुत कम और प्रायः नीरस से मिलते हैं। संमुख चित्रों में केवल आधा ही शरीर प्रेक्षक देख सकता है। 'डेढ़ चश्म' तस्वीर, जिसे अंग्रेज़ी में 'Three quarters profile' कहते हैं, उस का भी काफ़ी प्रचार रहा। परंतु अकबर और जहाँगीर के समय के बाद एक चश्म तस्वीरों का ही ज़्यादा रिवाज देखने में आता है। इवानशुकिन ने बहुत अच्छी तरह से सिद्ध किया है कि मुग़ल एवं हिंदू चित्रकला पुराने शिल्प-शास्त्रों के नियमों से ओत-प्रोत है; अर्थात् मुग़ल और हिंदू कला की विभिन्नताएं युगधर्म की विशेष परिस्थिति की ही द्योतक हैं। आदर्शों अथवा उद्देश्यों का भेद नहीं था। केवल मुग़ल बादशाहों का रुझान सांसारिक विलासवस्तुओं और आमोदप्रमोद के साधनों की तरफ़ अधिक था। पर प्रांतीय हिंदू राजाओं का दृष्टिकोण दूसरा था। समकालीन साहित्य से उन के जीवन का घनिष्ट संबंध था। इस कारण हिंदू कला के विषय प्राचीन सभ्यता के रँग में रँगे हुए हैं। पुराने भित्ति-चित्रों का प्रबल असर इन चित्रों में दिखाई पड़ता है। अनोखा रंग-विधान इन की विशेषता नहीं। इन का प्रधान गुण तो इन की बहुत ही अनोखी, भाववाही रेखाओं में है। चित्र का विषय कुछ भी हो, फिर भी इन चित्रों के पात्र चित्रकारों को बचपन से परिचित थे। इसी कारण इन चित्रों में एक तरह की अजीब कोमलता और सुकुमारता पाई जाती है। जैसे ग्राम्य-गीतों में कल्पना की ऊँची उड़ान न होते हुए भी, भाव की शुद्ध सरलता मिलती हैं, वैसे ही साधारण कोटि के भी हिंदू-चित्रों में एक क़िस्म की सचाई और सात्विकता नज़र आती है। इन चित्रों की ख़ास ख़ूबी इन के अव्यक्त अर्थ में, इन की गहरी भाव-व्यंजना में और इन के व्यंग में है। जिस प्रकार ध्रुपद की रचना एक ही ठाठ पर हुआ करती है उसी तरह एक ही भाव को लेकर हिंदू चित्रों

का आलेखन किया जाता है। जब कृष्ण की बाँसुरी बजती है तब जल थल सभी मुग्ध होकर उस में लीन हो जाते हैं। तमाम सृष्टि का रंगमंच एक ही भाव से आप्लावित रहता है। इन चित्रों का प्रधान रस शृंगार है। शृंगार ही तो वाणी और सौंदर्य का सार है—

सवैया

देव सबै सुखदायक संपति संपति दंपति दंपति जोरी।
दंपति सोई जु प्रेम प्रतीति प्रतीति कि रीति सनेह निचोरी॥
प्रीति महागुन गीत विचार विचार कि बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार बखान्यो सिंगार सिंगार को सार किसोर किशोरी॥

और शृंगार में भी 'किसोर किशोरी' की प्रेम-लीलाओं का प्राधान्य है। राधाकृष्ण केवल देव-युगल नहीं, वरन् जन-समाज की गहरी भावनाओं के, प्रेरणाओं के, प्रतिबिंब-रूप आदर्श व्यक्ति हैं। आदर्श प्रेम की चरम परिणति इसी पुराण-कल्पित युगलमूर्त्ति में कवियों ने एवं चित्रकारों ने पाई है—

सवैया

स्याम सरूप घटा ज्यों अनूपम नीलपटा तन राधे के झूमै।
राधे के अंग के रंग रंग्यो पट बीजुरी ज्यौं घन सो तन भूमै॥
है प्रति मूरति दोऊ दुहू की बिधो प्रतिबिंब वही घट दूमै।
एकहि देह दुदेव दुदेहरे देह दुधा यक देव दुहू मै॥

[देवकृत प्रेमचंद्रिका]

हिंदी साहित्य का पूरा जोड़ इस समय की हिंदू कला में मिलता है। वरन् यह कहने में ज़रा भी अतिशयोक्ति न होगी कि इस समय के चित्र चित्रित-साहित्य के अजीब नमूने हैं। ये भी साहित्य के ही अंग हैं। केवल साधन निराले हैं। मुग़ल मुसव्वरों जैसा शबीहों से अनुराग इन हिंदू चितेरों में नहीं पाया जाता। हिंदू क़लम की शबीह सादृश्य-चित्र नहीं हैं। वे तो प्रजा के आदर्श व्यक्तियों के आलेखन के एक क़िस्म के ख़ाके हैं। उन में परिचित लक्षणों का सूचन है, व्यक्तिविशेषों का चित्रण नहीं है। पंजाब, राज-

स्थान एवं अनेक प्रांतीय केंद्रों में बनी हुई इस काल की तस्वीरें, बहैसियत शबीह, मुग़ल चित्रों की कोटि की नहीं हैं। इस क्षेत्र में तो मुग़ल चित्रकार हिंदुस्तान की एवं एशिया की तवारीख़ में अद्वितीय हैं।

आकार और रचना के दृष्टि-कोण से मुग़ल और हिंदू कला में कोई भेद नहीं है, बल्कि इवानशुकिन ने बहुत अच्छी तरह से उदाहरण द्वारा दिखाया है कि मध्यकालीन कल्पसूत्रों में प्राप्त श्री महावीर भगवान के केशलुंचन की तस्वीर पंजाब की कृष्णलीला की तस्वीरों के रेखा-विधान से मिलती है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि मुग़ल एवं तत्पश्चाद् हिंदू काल में प्राचीन परंपरा से विभिन्न कोई कारीगरी उत्पन्न नहीं हुई।

रागमाला और ऋतुचित्र

मुग़ल काल में चित्रकारों ने एक नवीन शैली धारण की। नायक, नायिका के चित्र तो बनते ही थे। भरत नाट्यशास्त्र के ज़माने से अलंकार शास्त्रों के ग्रंथ नायक और नायिका के भेदों के विवेचन से भरे हुए हैं। अमरु-शतक जैसे सुंदर काव्य भी नायक-नायिका के दृष्टांत-रूप बने हैं। इस प्रणाली का एक दूसरा रूप रागमाला और बारामासा के चित्रों में दिखाई पड़ता है, क्योंकि रागों का ध्यान किसी प्राचीन संस्कृत ग्रंथ में नहीं मिलता। भरत के नाट्यशास्त्र में स्वरों के वर्ण और उन के अधिदेवताओं का वर्णन है और यह भी बताया गया है कि किस रस में किस स्वर को उपयुक्त करना चाहिए—

वर्ण—श्यामो भवेत्तु शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः॥४२॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चापि भयानकः।
नीलवर्णस्तु वीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥४३॥

अधिदेवता—शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदेवतः॥४४॥
वीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेंद्रदेवः स्याद‌द्भुतो ब्रह्मदैवतः॥४५॥

अ० ६

किस रस में किस स्वर को उपयुक्त करना चाहिए इस के विषय में लिखा है कि—

हास्यशृङ्गारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ ।
षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु तु ॥३८॥
गांधारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे ।
धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके ॥३९॥

भरतनाट्यशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, अ० १९

इसी तरह का वर्णन शार्ङ्गदेव के प्रसिद्ध ग्रंथ संगीतरत्नाकर में मिलता है ।

श्यामः सितो धूसरश्च रक्तो गौरोऽसितस्तथा ॥
नीलः पीतस्ततः श्वेतो रसवर्णाः क्रमादिमे ॥१३८७॥
विष्णुमन्मथकीनाशरुद्रेन्द्राः कालसंज्ञकः ॥
महाकालः क्रमाद्ब्रह्मा बुद्धश्च रसदेवताः ॥
शृङ्गारे देवतामाहुरपरे मकरध्वजम् ॥१३८८॥

अ० ७

नृत्य और चित्रकला का घनिष्ट संबंध तो पुराने कलाकोविदों को मालूम ही था । आंतरिक उल्लास, भाव और आवेश को तालबद्ध गति से—पादांगुलि-विन्यास से व्यक्त करना ही तो नृत्य है। चित्रकला का भी उद्देश्य इस से बहुत भिन्न नहीं था। साधन भेद अवश्य है। नृत्य के स्तंभित क्षणों का आलेखन ही मानों हिंदू चित्रकला का परमोत्कृष्ट विषय है। शार्ङ्गदेव ने भी एक जगह लिखा है कि—

कलासे वाद्यघातं च कुर्युः साम्येन वादकाः ॥
कलासेषु भवेत्पात्रं लीनं चित्रार्पितं यथा ॥

जिल्द २, पृ० ८०५, श्लो० १३०३

कहते हैं कि वाद्यारंभ होते ही नट को चित्रांकित-सा लीन हो जाना चाहिए। यह विचारणीय बात है कि अभी तक रागमाला और बारामासा के चित्र अकबर के काल से प्रथम के प्राप्त नहीं हुए। संभव है कि इसी समय में इन चित्रों का जन्म हुआ हो। यह समय हिंदुस्तान की संस्कृति के लिए बड़े महत्त्व

१०

का था। मुग़ल शानोशौकत के साथ भारतीय संस्कृति भी खिल उठी। साहित्य, स्थापत्य और जनसाधारण का जीवन, सभी कुछ पल्लवित हुआ। हिंदी साहित्य के लिए तो यह स्वर्णयुग था। फिर क्या आश्चर्य है जो ऐसे ज़माने में रागमालाओं और बारामासों का कविता और चित्र द्वारा वर्णन हुआ। सब से प्राचीन चित्र अभी मैंने आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध पुस्तकालय बॉडलियन लाइब्रेरी में देखे। मुग़ल चित्रकला का सब से प्राचीन मुरक़्क़ा (पुस्तिका) आर्कबिशप लॉड का ई० सन् १६४० का भेंट किया हुआ है। ३०० वर्ष तक इस पुस्तिका के चित्र कलाविदों को प्रायः अपरिचित रहे। बल्कि जब मैं बॉडलियन पुस्तकालय में गया तब क्यूरेटर पॅरी महोदय (Mr. Parry) ने पुस्तिका देते हुए मुझ से कहा कि इस के चित्र कुछ महत्त्व के नहीं। जब मैंने चित्रों के पन्ने फेरे तब तुरंत ही मालूम हुआ कि सब से पुरानी रागमाला के चित्र यहाँ विद्यमान हैं। नीचे लिखे रागों के चित्र इस पुस्तिका में बने हैं—

रागिनी गुनकली, विहास (?), मालकोश, मल्हार, कान्हरा, भैरव, आसावरी, धनाश्री, हिंडोल, बरारी, भैरवी, देवकली, विलावल, वसंत, पंचम, श्यामगुर्जरी, नट। ये सभी चित्र मध्यकालीन गुर्जर अथवा जैन चित्रों से मिलते जुलते हैं। फ़ारसी शैली का ज़रा भी असर नहीं। रागों के नाम की फ़ारसी लिपि में लिखी हुई चिटें कोनों पर चिपकी हुई हैं। रागों के ध्यान भी १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के रागों के ध्यान से कुछ भिन्न हैं। मल्हार राग के ध्यानों के चित्र में तत्कालीन जामा पहने, मुकुट लटकाए, ढोलक के ताल पर नाचता हुआ आदमी दिखाया है। हिंडोल राग का ध्यान सर्व-परिचित है। कृष्ण और गोपी झूले में झूल रहे हैं।* सब से अच्छा चित्र

---

*(Ivan Tschoukine) इवान शुकिन ने लॉड पुस्तिका के तीन चित्र रागिनी विलावल, पंचम और कान्हरा अपनी पुस्तक में (चित्र नं० ७२, ७३) प्रकाशित किया है। किंतु इन चित्रों के महत्त्व की ओर उन का ध्यान आकर्षित नहीं मालूम पड़ता है। देखिए, मेरा लेख—Bodlein Quarterly Record Vol. VII, No 76. 1932 पृष्ठ १३९.

रागिनी गुर्जरी का है। रागों के चित्रों के साथ फ़ारसी नस्तालीक़ में लिखे हुए कई किते भी हैं। एक पर हिजरी सन ९९५= ई. स. १५८७ और दूसरे पर हि. स. १०११=१६०२-३ की साल दी हुई है।

आर्कबिशप की पुस्तिका ई० स० १६४० से बॉडलियन पुस्तकालय में है, इस से अनुमान किया जा सकता है कि ये चित्र १६ वीं शताब्दी के अंत के बने होंगे। इस के पहले के चित्र अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। डा० आनंद कुमारस्वामी ने कुछ रागमाला के चित्र प्रकाशित किए हैं जिन पर गुजराती कवित्त लिखे हैं। ऐसे ही चित्र भारत-कला-भवन के भंडार में भी हैं। लॉड पुस्तिका के चित्र और डा० आनंद कुमारस्वामी के प्रकाशित किए चित्रों का मध्यकालीन गुर्जर जैन कला के साथ साम्य देख कर मेरा यह अनुमान है कि इन चित्रों की उत्पत्ति गुजरात में—प्राचीन लाट देश में हुई हो। क्योंकि १६ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध तिब्बती लेखक तारानाथ ने हिंदुस्तान के प्राचीन पाश्चात्य चित्रकारों की आश्चर्यजनक कृतियों का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है। ६ ठीं शताब्दी के प्रख्यात तामिल पद्यग्रंथ 'मणिमेखलई' में भी वर्द्धमानपुरी के प्रसिद्ध शिल्पकारों का उल्लेख पाया जाता है। यह वर्द्धमानपुरी आधुनिक बढ़वाण (काठियावाड़) है। १० वीं शताब्दी के सोमदेव के रस-प्रद ग्रंथ 'कथा-सरित्सागर' में भी गुर्जर शिल्पकारों का कई जगह उल्लेख मिलता है। लाट, मालव और राजस्थान इन तीनों ही प्रदेशों का पुराने समय में बड़ा ही घनिष्ट संबंध रहा और इन प्रदेशों में चित्रकला और संगीत का बड़ा ही उत्कर्ष हुआ। 'कथासरित्सागर' के लेखक ने उल्लेख किया है कि उज्जैन के राजप्रासादों की दीवारों पर पूरे रामचरित के चित्र खींचे गए थे। (१६ वां तरंग, लावणक लंबक) 'संगीत-रत्नाकर' के भी निम्नलिखित श्लोक बहुत महत्त्व के हैं—

नाट्यवेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुख :॥
ततश्च भरतः सार्धं गन्धर्वाप्सरसांगणे :॥
नाट्यनृत्यं तथा नृत्तमग्रे शंभोः प्रयुक्तवान् ॥ ४ ॥
प्रयोगमुद्धतं स्मृत्वा स्वप्रयुक्तं ततो हरः॥
तण्डुना स्वगणाग्रण्या भरताय न्यदीदिशत् ॥ ५ ॥

लास्यमस्याग्रतः प्रीत्या पार्वत्या समदीदिशत् ॥
बुद्ध्याऽथ ताण्डवं तण्डोर्मर्त्येभ्यो मुनयोऽवदन् ॥ ६ ॥
पार्वतीत्यनुशास्ति स्म लास्यं बाणात्मजामुषाम् ॥
तया द्वारवतीगोप्यस्ताभिः सौराष्ट्रयोषितः ॥ ७ ॥
ताभिस्तु शिक्षिता नार्यो नानाजनपदास्पदाः ॥
एवं परम्पराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥
पृष्ठ ६२४

पार्वती ने बाण की कन्या और अनुरुद्धपत्नी उषा को लास्य सिखाया ('लास्यं तु सुकुमाराङ्गमकरध्वजवर्धनम्'। श्लो० ३२।) उषा से द्वारका की गोपियों ने ये सुंदर नृत्यप्रयोग सीखे और उन्हों ने भारत के नाना प्रदेश की स्त्रियों को इन की शिक्षा दी।

मुग़ल कला में माँडू के सुलतान बाज़बहादुर और उस को प्रियतमा रूपमती नाम्नी वाराङ्गना के चित्र बहुत ही प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि बाज़बहादुर बड़ा ही संगीत-निपुण और ध्रुपद का बड़ा प्रसिद्ध गायक था। उस के दरबार में गुजरात के कई कुशल गायक थे। अबुलफ़ज़ल के अकबरनामा में भी गुजराती गायकों और चित्रकारों के अनेक नाम मिलते हैं और सभी नामों के आगे गुजराती शब्द लिखा है; जैसे, केशव गुजराती, सूर गुजराती, माधो गुजराती, भीम गुजराती। गुजरात की स्वाधीनता के नाश होते ही इस भारतीय कला के केंद्र का भी ह्रास हुआ। उस की विभूतियों का वास मुग़ल दरबार में जा कर हुआ। अधिक अन्वेषण करने से मेरी धारणा है कि काठियावाड़ के कई राज्यों में पुराने रागमाला के चित्र मिलने चाहिये।

रागमाला के अधिकतर चित्र प्रायः १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के आरंभ के मिलते हैं। उन के ध्यान का वर्णन अधिकतर हिंदी छंदों में दिया गया है। रामपुर के नवाब साहब के पुस्तकालय में एक रागमाला है, जिस का वर्णन फ़ारसी शेरों में है। कई रागमालाएँ पंजाब से भी प्राप्त हुई हैं। इन में एक विशेष बात यह है कि कई रागों के नाम ऐसे हैं जो आधुनिक संगीत-शास्त्र के लिए बिलकुल ही अपरिचित हैं। रागमाला के चित्रों का ख़ास

शौक़ राजस्थान और बुंदेलखंड के राजाओं को रहा। सहस्रों की संख्या में ये चित्र बनाए गए। इन में से साधारणतः केवल रागों के चित्र थोड़े ही होते हैं। अधिकतर चित्रों को एक तरह से नायक-नायिका भेद के ही चित्र समझना चाहिए। जैसे देव ने अष्टयाम में हर राग के लिए एक एक 'याम' निश्चित किया, वैसे ही चित्रकारों ने भी छत्तीसों राग रागिनियों के चित्र बनाए। किंतु मल्हार राग के चित्र और वर्षा ऋतु के चित्रों में कोई ख़ास अंतर नहीं पाया जाता, क्योंकि राग और ऋतु का भी इस में पहले से ही कार्य-कारण संबंध है। प्रत्येक राग और रागिनी के लिए समय और ऋतु निश्चित है। इसी कारण रागमाला के और ऋतु के चित्रों में स्वाभाविक संबंध चला आता है।

यूरोपीय कला में भी—ख़ास कर के फ़्लॉरेंस को १५ वीं शताब्दी, की कला में—ऋतु-चित्र पाए जाते हैं। किंतु इन ऋतु-चित्रों और हमारे ऋतु-चित्रों में बड़ा भारी अंतर है। ऋतु-चित्रों में यूरोपीय चित्रकार ऋतु के विशेष गुणों का आलेखन करता है। शीत-काल के चित्र में अंगीठी के पास तापते हुए लोग दिखलाए गए हैं। हमारे यहाँ ऋतु-चित्रों में कालिदास के 'ऋतु-संहार' का अनुसरण कर के ऋतुओं के उपयुक्त प्रेम-लीलाओं का ही आलेखन है। आसावरी, टोड़ी, दीपक, हिंडोल, भैरवी, ककुभ, मधु-माधवी ऐसे पाँच सात रागों को छोड़ कर के बाक़ी रागमाला के चित्रों में कल्पना या रचना की कोई ख़ास विशेषता नहीं पाई जाती। किंतु टोड़ी, आसावरी, ककुभ की तस्वीरों में संगीत, आलेखन और कविता का बड़ा ही सुंदर समन्वय हुआ है। संगीत से जिस कल्पना-सृष्टि का निर्माण होता है उसी के आलेखन का चित्रकार का यह मौलिक प्रयास है। सुगमता के लिए चित्रों पर चित्र के लक्षण कविता द्वारा भी प्रकट किए जाते हैं। ऋतु-चित्रों में फाल्गुन, श्रावण और भाद्रपद के चित्रों का विधान सुंदर पाया जाता है। किंतु साधारणतः कला-दृष्टि से इन चित्रों में कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखलाई पड़ता।

देव के 'राग-रत्नाकर' में हर राग की ६ भार्या बताई गई हैं, जिन में से प्रत्येक की एक नायिका विरहिणी भी है। जैसे भैरव की रागिनी सिंधवी, माल-

कोश की रागिनी गुणकरी, हिंडोल की रागिनी पटुमंजरी, दीपक की रागिनी कमोद, श्री की रागिनी धनाश्री और मेघ की रागिनी टंक—ये सभी विरहिणी नायिकाएँ हैं। इन सबों का वर्णन देव के 'राग-रत्नाकर' के सुंदर पद्य में मौजूद है। हिंदी कवियों ने छहों ऋतुओं के उपयुक्त प्रेम-लीला का बहुत ही विस्तार से वर्णन किया है। देव ने तो इस से भी आगे बढ़ कर दिन के आठों प्रहरों के उपयुक्त प्रेम-क्रीड़ाओं का विधान किया है। कभी कभी तो रागों की समय-सूची में औचित्य और अनौचित्य का ज़रा भी ख़्याल किया गया नहीं मालूम होता। उदाहरणतः दीपक गाने का समय ग्रीष्म ऋतु में दोपहर में है, और वह भी जलते हुए प्रदीपों के बीच में! 'राग-रत्नाकर' में दीपक का इस तरह से वर्णन है—

दोहा

पुरुष प्रात सूरज बरन, सूरज सूनु सभाग।
ग्रीषम ऋतु मध्याह्न में, दीपत दीपक राग॥

सवैया

सूरज के उदै तू रजराव चढ़्यो गजराज प्रभा परिबेख्यो।
दूसरो सूर ज्यों सूरज जोति किरीट त्यों सूरज भूषन भेख्यो॥
कामिनी संग सुरंग मैं प्योधनी ग्रीषम द्योस मध्यान विसेख्यो।
दीपनि दीप ज्यों दीपत दीपक राग महीपति दीपक देख्यो॥

इसी विधान के अनुसार तानसेन ने जो दीपक सचमुच ही गाया हो और उस को जलन पैदा हुई हो तो इस में आश्चर्य नहीं। इतना स्मरण रखना चाहिए कि इस चमत्कार में संगीत के प्रभाव की अपेक्षा ग्रीष्म के ताप और दीपों के प्रकाश के असर की अधिक संभावना है।

जैनों ने भी अपने अलग रागमाला के गीत बनाए। जैसे वैष्णव-साहित्य के, संगीत के, और सभ्यता के अधिनायक कृष्णचंद्र और राधिका हैं, वैसे ही जैन प्रेम-कथाओं के अधिदेवता नेमिनाथ और उन की सहचरी राजीमती हैं। जैनों ने ऋतु-गीत भी अपने अलग बनाए और उन में स्थूली-

भद्र और उन की कोशा नायिका के प्रेम-गीत गाए। ये स्थूलीभद्र नवम नंद सम्राट् के अमात्य-पुत्र थे। हमारे प्राचीन लेखकों की शायद कुछ ऐसी धारणा रही होगी कि यौवन-काल में विलास-मय जीवन बिताने से संतपद अथवा अर्हत्व शीघ्रतर और सुलभ होता है।

इन ऋतुगीतों की एक विशेषता यह है कि पति-वियोग से पत्नी को ही अधिक दुःख अनुभव होता है। हमारे प्रेम-काव्य की अधिदेवी नायिका ही होती है। इस का प्रधान कारण संभवतः यही है कि कविताकार स्त्रियाँ नहीं थीं, वरन् पुरुष थे। अथवा चारित्र्य-दोष नायिकाओं की अपेक्षा लेखकों में ज्यादा था। लेखकों ने स्त्री को ही प्रेम-प्रतीक बना कर सदियों तक कविता लिखी। ११वीं, १२वीं शताब्दी में ये ऋतुगीत बंगाल, गुजरात और राजस्थान में प्रचलित थे। किंतु राजस्थान के गीतों में प्रेम का वर्णन नहीं था। उन का संबंध ऋतुवर्णन से और शूरवीरता के प्रसंगों से था, और भाषा भी जानदार 'डिंगल' थी, जिस के द्वारा चारणों ने अनेक वीरों को प्रोत्साहित किया।

बंगला और गुजराती ऋतुगीत कृष्ण और राधा को संबोधित कर के ही बने हैं, परंतु हिंदी-साहित्य में राम और सीता को निर्देश कर के कई सुंदर और करुण लोकगीत बने हुए हैं। उन के कुछ उदाहरण पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' के ५ वें भाग में दिए गए हैं। बुंदेलखंड में भी राम और सीता को लेकर अनेक सुंदर ऋतुगीत प्रचलित हैं। हिंदी साहित्य की यह विशेषता संभवतः तुलसी रामायण की आभारी है। रामकथा का सब से अधिक प्रचार तो जनता में तुलसी रामायण ने ही किया।

जैनों के रागगीत और ऋतुगीत तो बहुत मिलते हैं। किंतु अभी तक जैन शैली के अथवा जैन विषयों के आधारभूत रागमाला और ऋतुगीतों के चित्र उपलब्ध नहीं हुए। जैन श्रेष्ठियों ने ज्यादातर धार्मिक ग्रंथों के ही चित्र बनवाए। चित्रित 'कल्पसूत्र' और 'कालकाचार्य-कथानक' के जोड़ के और कोई जैन ग्रंथ भंडारों में अभी तक प्राप्त नहीं हुए। रागमालाओं के बहुत ही सुंदर चित्र, जो अभी तक अप्रकाशित हैं, और शायद १९ वीं शताब्दी

के आरंभ के बने हैं, मैंने ब्रिटिश म्यूज़ियम की पुस्तिका नं० $\frac{OR57b}{21934}$ में देखे हैं। कुछ चित्रों पर 'अमल शीतलदास', (शीतलदास को क़लम से बने); कुछ पर 'अमल गिरिधारीलाल' और कुछ पर 'अमल बहादुरसिंह' लिखा है। इन चित्रों पर कई सुंदर कवित्त लिखे हैं जो नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

मणिन जटित तन भूषण विराजमान
वसन विचित्रवर पैन्हें चुनि चारु है।
नाचत नवीन गति भेद जे संगीतन के
सुन्दर सुघर हिय आनन्द अपार है।
गोरी मन भोरी थोरी वैस मुख पान खात
अधर ललाई सोहै आछे हिय हार है।
प्यारे रंगलालजू को संग लै अनंग बस
पंचमी सी बाल करे बिपिन बिहार है।

—अमल सीतलदास

नीलमणि ऐसो जाको साँवरो सलोनो गात
सोहत तिलोतमा लौं सुषमा सुहाग री।
भेद मुसकाती मुख सुन्दर लसत अति
भाग भरी गोरी सीस कल गुण आगरी।
नीर औ समीर पानदान वाली आली गन
सेवत विविध भाँति जानी बड़े भाग री।
परम प्रवीन रस लीन ह्वै बजावे बीन
प्रीतम नवीन रंगलाल अनुराग री।

—अमल गिरधारी

रतन जटित खंभ, डोरी लाल पाट की है,
पटिका कनक मणि खचित बनाव सौं।
झूलत हिंडोरे हिल मिल नारिन सौं,
कौतुक करत राग रंग रति भाव सौं।

उरुक उरुक झूम, घूम झुकि परै, भूमि,
विवस हिंडौले मिस; रस ही के दाव सौं।
हा हा कर लीन्हों ज्यों ही अंक भरि प्यारी दोऊ,
करैं हँसि रंगलाल प्यारे प्रेम चाव सौं।

—अमल बहादुरसिंह

श्याम घन रंग अंग दामिनी दमक पट,
जरकसी चीरा सरपेच मणि गण को।
कुंडल श्रवन मुकताहल चमक चारु
इन्द्रधनु भौंह छवि, पिंग है नयन को।
आसन विचित्र पाकशासन से सोभावंत
रंगलाल प्यारे पति, रसिक जनन को।
पावस में राग-रस बरसावे वार वार
देखु री मलार से उदार तन मन को।

—अमल सीतलदास

परम प्रवीन धुन राग रस रंग लीन,
प्रेम मदमाती जागी चारों जाम जामिनी।
भानु के उदय हूँ लौं केलि के भवन करै,
कौतुक अनेक भाँति भाँति वर कामिनी।
नवलकिशोरी एरी रागिनी गंधारिका लौं,
पहिरे विचित्र चीर सोहती ज्यों दामिनी।
प्यारे रंगलाल जू के अंक में मयंक मुखी,
मुदित बजावे बीन नाचै व्रज-भामिनी।

—अमल सीतलदास

सुन्दर सुघर चारु भूषण वसन धरै,
उज्ज्वल वरन तन अति सुकुमार है।
कर में कमल फूल फेरत फिरत मंजु,
मंजुल निकुंज बन करत विहार है।

चुनि चुनि ल्यावे सहचरी गुणगान करि,
विविध प्रसून कौ रचत उर हार है।
साँझ सम्रै आली आज प्यारे रंगलाल जू कों
निरख्यो श्रीराग तैं परम उदार है।
—अमल बहादुरसिंह

ऊपर के सब कवित्त किसी एक ही कवि की रचना जान पड़ते हैं। उन की शैली एक सी है। सब कवित्तों के चौथे चरण में रंगलाल पद आया है जो कवि का नाम वा उपनाम है।

चित्रों पर फ़ारसी लिपि में चित्रकार का नाम सुर्ख़ या सुनहरी स्याही में लिखा है। हाशिया भी बहुत ही सुंदर है। एक १८ वीं शताब्दी के अंत का 'भैरव का राग' दूसरी पुस्तिका नं० OR56C में है। उस पर लिखा सवैया नीचे उद्धृत किया जाता है—

फूले जहां पुँडरीक इँदीवर ऐसे सरोवर मध्य सुहावै।
सुंदर रूप सिंगार किये यह गावत ताल वजावत भावै॥
प्रेम सों ध्यान धरे शिव को फल से कछु नाइक हाथ लगावै।
या विधि भाव बखानिये भैरों की रागिनि भैरवि नाम कहावै॥

इस पुस्तिका में ३५ तस्वीरें हैं, जिन में से एक भी प्रकाशित नहीं हुई। ब्रिटिश म्यूज़ियम के संग्रहालय में भारत के चित्रों का दुनिया में सर्वश्रेष्ठ संग्रह है। शोक का विषय है कि इन में से अधिकांश अभी तक कला-कोविदों को बिलकुल ही अपरिचित हैं।

हिन्दू चित्रकला का विकास और विस्तार

मुग़ल घराने से जयपुर राज्य का शुरू से ही घनिष्ट संबंध रहा। बुन्देलखंड के राज्यों का भी आगरा और दिल्ली सरकार से संपर्क रहा। पूना में भी मुग़ल तहज़ीब का प्रबल असर पड़ा। जैसे भारतीय स्थापत्य के इतिहास में मुग़ल बादशाहों के आश्रय से एक दूसरे प्रकरण का प्रारंभ हुआ, वैसे ही भारतीय चित्रकला में मुग़लकाल से एक नये परिच्छेद का सूत्रपात हुआ। कला की—विषय निर्वाह की—प्रणाली एक होते हुए भी विषयान्तर के कारण कभी कभी भ्रम हो जाता है। इवानशुकिन ने ठीक कहा है कि चित्रकला का दारोमदार उस के विषयों पर नहीं है, वरन् चित्रों के आकार, रचना एवं रेखा-विधान पर निर्भर है। १८ वीं शताब्दी के मध्य के कई चित्र मिलते हैं जो मिश्र-चित्र ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे संक्रान्ति-काल की कृतियाँ थीं। इवानशुकिन ने गुजराती चित्रों से मुग़ल-चित्रकला का विकास-क्रम उदाहरण द्वारा दिखलाया है। कालोचित परिवर्तन होते हुए भी पुराने भित्ति-चित्रों की परंपरा लगभग १९ वीं शताब्दी के मध्य तक क़ायम रही।

जयपुर

चित्रित बिहारी

जयपुर के पोथीख़ाने का चित्र-संग्रह १७ वीं और १८ वीं शताब्दी की हिंदू-चित्रकला के इतिहास के अध्ययन के लिए अमूल्य है। अभी तक हिंदू चित्रकला के बहुत ही उत्कृष्ट नमूने वहाँ मौजूद हैं। राजपूताने की अन्य रियासतों की भाँति जयपुर दरबार को मुसलमानों से कभी झगड़ना नहीं पड़ा। इसी कारण कवियों और चित्रकारों को दरबार से बराबर सदियों तक आश्रय मिलता रहा। सवाई जयसिंह दूसरे के अमात्य राजा आयामल्ल के*

---

* देखो जदुनाथ सरकार का—Fall of the Mughal Empire I. (1933) पृष्ठ 296. आयामल्ल सवाई जयसिंह के सब से कुशल और स्वामिभक्त मंत्री थे। ९ फ़रवरी ई० स० १७४७ में इन का देहांत हुआ।

लिए लिखित, चित्रित बिहारी-सतसई के कुछ पृष्ठ मेरे पास मौजूद हैं। इस सचित्र प्रति की समाप्ति निम्न प्रकार से होती है—

"सत्रह सत द्वै आगरे, असी वरस रविबार ॥
अगहन सुदि पांचे भए, कवित सकल रस सार ॥३४॥

इति श्री विहारी सतसया के दोहा कवित्त सहि संपूर्ण ॥ शुभं भूयात् ॥ संवत् १७८८ शाके १६५३ आषाढ़ बदि दशम्यां भृगु वासरे संपूर्णोंति ॥ श्री ॥"

इस पुस्तक में कृष्ण कवि की छन्दोबद्ध टीका भी सम्मिलित है, जिस के विषय में नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ९ पृष्ठ १११-११६ में स्वर्गगत रत्नाकर जी ने विस्तार से लिखा है। मेरे पास केवल ६८ पृष्ठ हैं, जिन में से ३५ पृष्ठ दोनों ओर चित्रित हैं। शेष पृष्ठों में चित्र नहीं हैं। पृष्ठ का माप १२"×९" है। मेरे पास के ये पृष्ठ पूर्ण सतसई के एक सूक्ष्म कलेवर-रूप हैं। पूरी पुस्तक के लिए सैकड़ों चित्र बनाए गए होंगे। इस पुस्तक का महत्त्व इस के चित्रों में ही है। चित्रों को ढब कुछ अनोखो है। मुग़ल शैली से भिन्न है, परंतु राजपूत शैली भी नहीं है। पहाड़ी क़लम का कुछ भी प्रभाव नहीं है। चित्र देखने से दोहों का अनूठा भाव उन की आंतरिक सजावट, उन की कोमलता—इन सब गुणों का भान नहीं होता। चित्राङ्कन में आभरणरूप रंग विधान होते हुए भी रस की मात्रा कुछ कम है। १८ वीं शताब्दी के प्रारंभ काल के जयपुरी-शैली के ऐसे चित्र कम देखे गए हैं। कला की दृष्टि से इन चित्रों को मिश्र शैली का मानना चाहिए। इन में सब से महत्त्व का चित्र तो वही है जिस में बिहारी अपनी सतसई के एक दोहे में कृष्ण भगवान का ध्यान करते हैं—

सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल।
यहि वानिक मो मन बसौ सदा बिहारी लाल ॥

बिहारी की तस्वीर ख़ास महत्त्व की है।

चेहरे और पहिनावे से बिहारी पूरे राजकवि मालूम होते हैं।*

एक तरह से जयपुरी क़लम का संबंध मुगल-क़लम से ज़्यादा रहा। पहाड़ी क़लम की तरह राजस्थानी चित्रों में रेखाएँ भावानुसार प्रवाहित नहीं होतीं। पहाड़ी कलम की कोमलता और मार्दव भी उन में कम मिलता है। मुग़ल आलेखन का पक्कापन जयपुरी एवं राजस्थानी चित्रों में देखा जाता है। जयपुर के चित्रकारों की प्रतिष्ठा भारत भर में रही। बाजीराव पेशवा (ई० सं० १७७४-१७९१) ने पूना के शेणवार बाड़ा में अपने प्रासाद के वास्ते चित्र बनाने के लिए जयपुर से ही भोजराज नाम का कारीगर बुलाया था। और इस में शक नहीं कि मरहठों के समय के चित्रों पर, जो ब्रिटिशम्यूज़ियम और अन्य स्थलों में मिलते हैं, जयपुर क़लम की गहरी छाप है। गुजरात के भी इस काल के जो चित्र मैंने देखे हैं इसी शैली के हैं। अब तक स्थापत्य, शिल्प एवं चित्रकारी के लिए जयपुर का नाम सारे उत्तर हिंदुस्तान में प्रसिद्ध है। परंतु पुरानी परंपरा अब बहुत कुछ गिर गई है। प्रेरणा और राज्याश्रय का अभाव होने से प्राचीन शैली का संपूर्ण विकास नहीं हुआ। जयपुर के पोथी-ख़ाने में 'रासमंडल' और 'गोवर्धन-धारण' जैसे चित्र कम नज़र आते हैं। इसी ज़माने में साहबराम चितेरे ने कुछ उत्तम चित्र बनाये, जिस के नमूने पोथी-ख़ाने में और एक बोस्टन-म्यूज़ियम में विद्यमान है। जयपुर के चित्रकारों ने अनेक शबीहें बनाईं, किंतु इन की पद्धति मुग़ल-शैली से निराली थी। इन की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ रागमाला और कृष्ण-लीला के चित्रों में पाई जाती हैं। इस शैली का घनिष्ट संबंध जम्मू अथवा श्री अजित घोष की प्रसिद्ध की हुई बसौली शैली से है। मुग़ल शैली के प्रभाव की अपेक्षा पुराने भित्ति-चित्रों एवं पाश्चात्य गुर्जर शैली का असर विशेष और चिरस्थायी रहा। बीकानेर में, और जोधपुर एवं अन्यान्य राजपूत रियासतों में १८वीं और १९वीं शताब्दी में भित्ति-चित्र बने, जो अभी तक मौजूद हैं। कच्छ के भी प्रासादों

---

* देखिए एप्रिल सन् १९३२ के 'विशाल भारत' में प्रकाशित मेरा लेख "चित्रित बिहारी-सतसई"।

में ऐसे ही चित्र हैं। परंतु इन भित्ति-चित्रों का क्रमानुबद्ध अध्ययन अभी तक संभव नहीं है। प्रतापगढ़ ज़िले के कालाकांकर राज्य के राजभवन में १९ शताब्दी के भित्ति-चित्र अभी तक अच्छी हालत में विद्यमान हैं। ऐतिहासिक दृष्टि ही से इन चित्रों का महत्त्व माना जा सकता है।

अलवर

अलवर रियासत में, जो जयपुर से १८ वीं शताब्दी के अंत में पृथक् हुई, एक चित्र-प्रणाली का जन्म हुआ। महाराजा बन्नूसिंह (१८२४—१८५७) ने चित्रकारों को आश्रय दिया। पर अलवर के जो चित्र मैं ने देखे हैं वे ख़ास महत्त्व के नहीं हैं। राजपूताने एवं काठियावाड़ की रियासत में अभी तक हिंदू चित्रकला के अध्ययन की अमूल्य और अटूट सामग्री पड़ी है, किंतु वह दुष्प्राप्य है।

१८ वीं शताब्दी के अंत के और १९ वीं शताब्दी के आरंभ के हिंदू चित्र प्रायः जयपुर, कांगड़ा, गढ़वाल, नाहन, मंडी, बसौली, ओड़छा, दतिया, जोधपुर, उदयपुर, गुजरात और महाराष्ट्र के मिलते हैं। गुजरात और महाराष्ट्र के चित्रों का अभी तक अध्ययन और प्रकाशन नहीं हुआ। इस समय के मिश्र-चित्र दक्खिनी क़लम के दक्षिण हैदराबाद से मिलते हैं।

बसौली

पंजाब से प्रायः दो क़िस्म के चित्र मिलते हैं। एक तो बिलकुल कांगड़ा के, जो पहाड़ी या कांगड़ा क़लम के नाम से प्रचलित हैं। दूसरे प्रकार के चित्रों को बेचने वाले कभी कभी तिब्बती चित्र कहते हैं। ये चित्र पहाड़ी क़लम से बिलकुल ही भिन्न हैं। इन का संबंध राजस्थान की शैली से साफ़ मालूम होता है। इन चित्रों को डा० आनन्दकुमार स्वामी ने पहले पहल अपने 'राजपूत पेंटिंग' (Rajput Painting) नामक ग्रंथ में जम्मू शैली के नाम से प्रकाशित किया था। हाल में अजित घोष ने सिद्ध किया है कि ख़ास जम्मू में कोई विशेष चित्र-परम्परा नहीं थी। बल्कि बसौली, जो इस वक़्त काश्मीर रियासत में कथुवा ज़िले की एक तहसील है, चित्र कला का एक महत्त्व पूर्ण केन्द्र रहा। बसौली रियासत की राजधानी बालौर अथवा बल्लपुर है। 'बालोरया' राजाओं के आश्रय में, जो कहा जाता है कि पहले

प्रयाग से आए हुए थे, एक नवीन चित्र-शैली का जन्म हुआ। अजितघोष की धारणा से मैं सहमत हूँ कि राजस्थानी क़लम से मिलते हुए जो चित्र पंजाब से उपलब्ध हुए हैं और होते हैं वह बसौली शैली के अथवा इस से भी अधिक उपयुक्त उत्तर भारतीय शैली के नाम से प्रसिद्ध होना चाहिए। केवल इतना स्मरण रहना चाहिए कि यह उत्तर भारतीय शैली पुरानी राजस्थानी परंपरा का एक उपभेद मात्र है; इस को और पहाड़ी चित्रों की रचना में, रंग-विधान में, और रेखाओं में विभिन्नता है। विषय एक होते हुए भी आलेखन शैली बिलकुल निराली है। बुन्देलखण्ड के चित्रकारों की तरह बसोली के चित्रकारों को भी लाल पीले और नीले-सादे रंगों से ख़ास अनुराग था। इस चित्रशैली में उतनी कोमलता नहीं, जितना तेज है, उतना मार्दव नहीं, जितनी स्फूर्ति है। आडम्बर और बाह्य-लावण्य की तरफ़ इन चित्रकारों का रुझान ही नहीं। इस विषय में पुराने गुर्जर चित्रकारों से ये समता रखते हैं। जो कुछ कहना होता है वह सीधी, सादी, दौड़ती हुई रेखाओं में, सादे फड़कते हुए रंगों से रंगीन आलेखन द्वारा कह देते हैं। पहाड़ी चित्रों की अपेक्षा बसौली शैली के चित्र ग्रामीण हैं, किंतु इसी ग्रामीणता में इन की विशेषता है; और बल और ओज का प्रदर्शन एक बलवती शैलो द्वारा होता है। १७ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक के ये चित्र मिलते हैं। चित्रों की सामग्री रागमाला, गीतगोविन्द, श्रीमद्भागवत, रामायण, महाभारत, देवीमाहात्म्य, भानुदत्त की रसमंजरी, नायक-नायिका भेद—संक्षेप में हिंदू कला के सभी परिचित विषयों से ली गई है। कांगड़ा, गढ़वाल, मंडी, गुलेर की पहाड़ी रियासतों के चित्रकारों ने रागमालाओं के चित्र बहुत बनाए नहीं मालूम होते। पर बसौली के चित्रकारों को तो राजस्थानी मुसव्वरों की तरह रागमाला से विशेष अभिरुचि थी। चित्रों पर कभी कभी ताकरी लिपि में लेख होते हैं। पर संस्कृत ग्रंथों के चित्रों की पुश्त पर सुंदर नागरी लिपि में लिखे हुए संस्कृत श्लोकों के कभी कभी पूरे अध्याय भी मिलते हैं। रागमाला के चित्रों पर प्रायः राग का नाम ही मिलता है। इन रागों के 'ध्यान' राजस्थानी रागमालाओं के 'ध्यान' से बहुत कुछ भिन्न होते

हैं, और कई राग, जैसे श्रीराग चंपक, श्रीराग कमल, श्रीरागाणि कुंकणि, श्रीराग हर्ष, श्रीराग षोषर ऐसे भी हैं जिन के नाम संगीत पुस्तकों में अप्राप्य हैं। इस शैली के कतिपय चित्र यहाँ दिये गये हैं।

इन चित्रों की रंग-विशेषता के अतिरिक्त मनुष्यालेखन में उत्फुल्ल-कमल की तरह बड़ी बड़ी आँखें, भरे हुए गाल, पीछे जाता हुआ ललाट—इस चित्र-शैली के विशेष लक्षण हैं। इस की रेखाओं में कुछ रूखेपन के साथ भी ओज की मात्रा है। रेखा और रंग का कुछ अद्भुत समन्वय होता है। १८ वीं शताब्दी के अंत के चित्र अपने फड़कते रंगों से पहाड़ी एवं किसी भी हिंदुस्तानी क़लम से बिलकुल अलग दिखाई पड़ते हैं। फिर इन चित्रों में सब से विचित्र बात यह पाई जाती है कि स्त्रियों एवं पुरुषों के आभूषणार्थ तितली के पंखों के चमकीले हरे रंग के टुकड़ों का उपयोग किया गया है। भारतीय-चित्रकला में ऐसा प्रयोग बिलकुल ही अनन्य है। पहाड़ी चित्रकारों की तरह इस उत्तरी-शैली के मुसव्वर अंग को बारीक मलमल से ढक कर पारदर्शक नहीं बनाते। केवल लँहगे पर की चूनरी पारदर्शक होती है। क्षितिज की रेखा चित्र के ऊपरी हिस्से में थोड़ी सी दिखलाई जाती है। फूल पत्तियों का आलेखन केवल लाक्षणिक और आभरणमय होता है। किसी विशेष वृक्ष या फूल-पत्ती का चित्रण नहीं होता। १७ वीं शताब्दी के चित्रों में रंग-विधान इतना फड़कता हुआ नहीं है। चिपकाये हुए तितली के पंखों के टुकड़ों का भी प्रयोग नहीं है। मालूम होता है कि १७ वीं शताब्दी में ही इस शैली में सहस्रों की संख्या में श्रीमद्भागवत, रामायण, इत्यादि धार्मिक ग्रंथों के चित्र बने। इन चित्रों का संबंध राजपूताने के और मध्यकालीन गुजराती चित्रों से है। एक तरह से पुराने भित्ति-चित्रों के ये सूक्ष्म रूप हैं। पहाड़ी क़लम की अपेक्षा यह शैली प्राचीन परंपरा के अधिक समीप है। मुग़ल काल की विशेषताओं का उस पर तनिक भी असर नहीं। मुग़ल और काँगड़ा क़लम की तस्वीरें सच्चे पुस्तिका-चित्र (miniatures) हैं। गुजरात एवं बसौली के चित्र आकार में छोटे होते हुए भी भित्ति-चित्र ही हैं। इन की रचना, रंग, इत्यादि सभी भित्ति-चित्रों के अनुकूल हैं। इन चित्रों द्वारा पुरानी परंपरा का शताब्दियों

तक अनवरत अस्तित्व होना सिद्ध होता है। (विशेष विवरण के लिए देखो अजितघोष का लेख, 'रूपम्' नं० ३७ पृष्ठ ६-१७)*

बसौली अथवा उत्तर भारतीय और मुग़ल परंपरा से ही कांगड़ा की पहाड़ी क़लम का उद्‌गम हुआ जान पड़ता है। पहाड़ी क़लम का विकास होते हुए भी, बसौली की परंपरा कुछ काल तक—१८ वीं शताब्दी के अंत तक—साथ साथ चलती रही।

कांगड़ा के राजा संसारचंद्र (१७७४-१८२३) का नाम भारतीय चित्र-कला के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। उस के ज़माने में महाभारत और कृष्ण बलराम के अनेक चित्र बने, और इन चित्रों में सुजानपुर के प्रासाद के अनेक दृश्यों का विवरण मिलता है। संसारचंद्र कांगड़ा का अंतिम राजा था। मरते वक़् महाराजा रणजीतसिंह का केवल सामंत ही रह गया था। अब तो कांगड़ा पंजाब का एक छोटा ज़िला है। संसारचंद्र की तरह गढ़वाल के राजा सुदर्शनशाह ने भी अनेक चित्रकारों को आश्रय दिया था। इन सब पहाड़ी रियासतों में हमेशा से गहरा कौटुम्बिक संबंध रहा। इन रियासतों की चित्र-कला में बहुत कुछ साम्य है और इन्हीं चित्रों के लिए प्रचलित नाम पहाड़ी क़लम यथार्थ उपयुक्त है।

कांगड़ा कलम

१८ वीं और १९ वीं शताब्दी के मध्य तक के हिंदू चित्रकारों ने आले-खन के किसी भी विषय को छोड़ा नहीं है। राधाकृष्ण को उपलक्ष बना कर जीवन की तमाम लीलाओं का इन चित्रकारों ने आलेखन किया है। समकालीन कवियों की तरह इन्हों ने भी सभी विषयों पर काव्य-चित्र लिखे। नहाने का,

हिंदू शैली की विशेषता

---

*भारत कला-भवन काशी में बसौली शैली के अच्छे नमूने विद्यमान हैं। इन में से 'रूपम्' के नं० ४० में प्रकाशित हुए 'राधाकृष्ण' तथा 'कृष्ण और गोपी' के चित्र बसौली शैली के ही हैं। श्री अर्द्धेन्दुकुमार गांगुली ने राधाकृष्ण के चित्र को कांगड़ा क़लम का कहा है, और कृष्ण और गोपी के चित्र को राजस्थानी चित्र माना है। मेरी धारणा के अनुसार ये दोनों चित्र बसौली शैली के हैं, ख़ास करके कृष्ण और गोपी का। ये दोनों चित्र १७ वीं शताब्दी के अंत के हैं।

पकाने का, खाने का, सोने का, पहिनने का, शृंगार करने का, ताम्बूल-वितरण का, आखेट का, उजियाली रात्रि में आँख मिचौनी का, ग्रहण-स्नान का, गोधूलि का, शाम के वक़् चौपाल पर हुक्का-पानी का—सभी विषयों का इन चित्रकारों ने आलेखन किया है। डा० आनंदकुमार स्वामी ने अपने 'राजपूत पेंटिंग' में एक चित्र दिया है, जिस में छूटे केशवाली विरहिणी नायिका मुसव्वर से पूछती है कि 'तुम दिनभर आलेखन किया करते हो, फिर भी प्रियसमागम की अभी तक कोई भी संभावना नहीं।' एक कोने में चित्रकार अपने रंग-पात्रों सहित दिखाया गया है। चित्रकार कहता है कि 'मैं अभी दीवार पर प्रेम-युगल का ऐसा चित्र बनाये देता हूँ जिस में विरह-व्यथा के लिए फिर स्थान ही न होगा'। (देखो प्लेट नं० ७०) पौराणिक प्रसंगों और कथा कहानियों के चित्रण में तो ये चित्रकार अतीव निपुण थे। मुग़ल-चित्रकारों ने शाही वैभव का—राजकीय व्यक्तियों का—अनुपम आलेखन किया। इन हिंदू चित्रकारों ने जन-साधारण के जीवन को काव्य-मय सृष्टि में प्रस्फुटित किया। प्रजा के जीवन के उल्लास की गहरी छाप इन चित्रों पर हमेशा दृष्टिगोचर होती है, और यही इस शैली का गौरव और प्रधान गुण है।

१८ वीं और १९ वीं शताब्दी की हिंदू चित्रकला का शृंखलाबद्ध अध्ययन डा० आनन्दकुमार स्वामी ने १५ वर्ष पहले किया था। उस ज़माने में इस कला के नमूनों की प्रचुरता, विविधता, और सौंदर्य का यथार्थ ज्ञान असंभव था। फिर भी डा० आनन्दकुमार स्वामी लिखित 'राजपूत कला' की दो जिल्दें अभी तक अत्यंत उपयोगी साबित हुई हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार स्थपति, चित्रकार और शिल्पी श्रमजीवी कारीगर मात्र थे। इन के जीवन की घटनाओं के विषय में सर्वसाधारण को कोई विशेष रस नहीं था। इन कलाकारों की अपेक्षा कवि-जन अधिक भाग्यशाली थे, क्योंकि उन के व्यक्तित्व के लिए जनता के हृदय में प्रेम और सम्मान था। हिंदूकला के इतिहास में चित्रकारों के जीवन का व्यक्तिगत वृत्तान्त, बल्कि उन के नामों तक का पता नहीं मिलता था। सन् १९२१ में श्री मुकुन्दीलाल ने टेहरी गढ़वाल के कवि-चित्रकार मोलाराम

मोलाराम

का पता लगाया, क्योंकि यही एक नाम उस वक्त मालूम था; और इसी से उन के चित्रों की कुछ विशेष प्रसिद्धि भी हुई। पर अब तो कई हिंदू चित्रकारों के नाम उपलब्ध हैं। टेहरी गढ़वाल के ही और मोलाराम के समकालीन दो चित्रकारों के नाम—चैतू और माणकू अथवा मानक—मुझे टेहरी महाराज श्री नरेन्द्रशाह के संग्रहों में सन् १९२४ में मिले। इन के कई चित्र प्राप्त हुए हैं, और चित्रकला में ये मोलाराम से किसी तरह कम नहीं हैं। मोलाराम के चित्रों की विशेषता इन के चित्र और कवित्व के समन्वय में है। इन के पूर्वज, इन के पितामह बनवारीदास अपने पुत्र श्यामदास और हरदास को ले कर सुलेमान शिकोह के साथ टेहरी महाराज पृथिवीशाह की शरण आये थे। औरंगज़ेब के दबाव से सुलेमान शिकोह सन् १६६० में आँबेर महाराज मिर्ज़ा जयसिंह के पुत्र कुँवर रामसिंह के सुपुर्द कर दिए गए, और औरंगज़ेब के हाथ से ही उन की मृत्यु भी हुई। मोलाराम जाति के सुनार थे और उन के पूर्वज मुसव्वर कहलाते थे। उन के वंशज मोलाराम के प्रपौत्र बालकराम अभी तक जीवित हैं, किंतु उन के पास अब अपने पूर्वजों की चित्र-सम्पत्ति नहीं रही। अपने जीवन के संबंध में मोलाराम ने निम्नलिखित पद्य लिखे हैं—

साठ गाँव जागीरै दीन्हें।
अपने वह उस्तादहु कीन्हें॥
पढ़ी पारसी तिनके पासू।
रहे होय जो तिन के दासू॥

मोलाराम सन् १८३३ तक जीवित थे। महाराज जयकृतशाह और उन के छोटे भाई प्रद्युम्नचंद के ज़माने में उन के पास ६० गाँव की जागीर के अतिरिक्त ५ रुपये रोज़ की वृत्ति भी बँधी हुई थी। इन के अनेक चित्र प्रकाशित हो चुके हैं। 'मोरप्रिया' नाम के एक चित्र के हाशिए पर निम्नलिखित दोहा इन्हों ने लिखा है—

का हजार का लाख हैं, अर्ब खर्ब धन ग्राम।
समझे मोलाराम सो, सरबस देइ इनाम॥

यह सच्चे कलाकार के उपयुक्त बात हुई। मोलाराम को धन संपत्ति और ग्राम नहीं चाहिए। वह तो ऐसे गुणपारखी चाहते हैं, जो उन की कला को

समझें, उस की क़द्र करें, और सच्चे मन से मुग्ध हो कर अपना तन मन उस पर निछावर कर दें।

उन का ही एक और चित्र है, जिस में भुवनेश्वरी देवी उन को वर-दान दे रही हैं। चित्र यद्यपि इतना सुंदर नहीं है, परंतु मोलाराम की अपनी शबीह के कारण वह एक विशेष महत्त्व रखता है। मोलाराम अपने पूर्वजों को सुलेमान शिकोह का दीवान बतलाते हैं, और अपने को टेहरी महाराज का सलाहकार और कवि। कविता यद्यपि उन की बहुत साधारण और कहीं कहीं शिथिल भी है, किंतु इस में तो संदेह ही नहीं कि उन का मानस कवित्वपूर्ण था। शब्दों की अपेक्षा चित्र की रेखाओं द्वारा उन का कवित्व अधिक खिला है।

मोलाराम की जागीर सन् १८१७ में ज़ब्त हो गई। किंतु टेहरी नरेशों ने चित्रकारों को आश्रय देना जारी रक्खा, क्योंकि चैतू और माणकू महा-राजा सुदर्शन शाह (१८१५-१८५९) के दरबार के ही चित्रकार थे।

माणकू का लिखा राधा कृष्ण का एक चित्र है, जिस के ऊपरी हाशिए पर लिखे एक संस्कृत छंद में चित्रकार ने अपना नाम दिया है। छन्द इस प्रकार है:—

मुनिवसुगिरिसोमैस्सम्मिते विक्रमाब्दे
माणकू और चैतू गुण-गणित-गरिष्ठा मालिनी वृत्तवित्ता
व्यरचयदज-भक्ता माणकू-चित्र-कर्त्ता
ललित-लिपि-विचित्रं गीतगोविन्दचित्रम्।

अर्थात्—

मुनि (७) वसु (८) गिरि (८) सोम (१) युक्त विक्रम संवत् १८८७ में गुणों की संख्या में श्रेष्ठ, चरित्र-वैभव-शालिनो, अजभक्ता (विष्णु-उपासिका) मालिनी ने चित्रकार माणकू द्वारा सुन्दर लिपि से विभूषित गीत-गोविंद के चित्र बनवाये।

यह मालिनी कौन थो, कहना कठिन है। परंतु इतना तो अवश्य है कि इस नाम की किसी उच्चकुलशीला, चरित्रवान् और गुणवान् रमणी की

प्रेरणा से माणकू ने गीतगोविंद के सुंदर चित्र बनाये। इस से अधिक इस चित्रकार के व्यक्तित्व के संबंध में हमें और कुछ नहीं मालूम। इस के बनाये कई चित्र प्राप्त हैं, जिन में केवल एक ऐसा है जिस पर इस की अपने हाथ की सही मिलती है। "आंख-मिचौनी" नाम के चित्र की पुश्त पर "मानक की लिखी" ऐसे हस्ताक्षर हैं। यह चित्र मेरी पुस्तक Studies in Indian Painting में मौजूद है, (चित्र नं० २१) और चित्रकार के कौशल का एक अनुपम और ख़ास नमूना है। माणकू की चित्र-प्रणाली कुछ ऐसी अनोखी है कि उस की कृतियों को पहिचानने में विशेष कठिनाई नहीं होती। प्राकृतिक दृश्यों के आलेखन में वह सिद्धहस्त है, और रंगों की उज्ज्वल जमावट, एवं प्रकृति के नाना दृश्यों से—सुन्दर सरिताओं, उपवनों, निर्झरों और गिरि-गुहाओं से—समलंकृत सुरम्य पृष्ठ भूमि, उस के चित्रों की विशेषता है।

गीतगोविन्द को चित्रित करने के अलावा माणकू ने बिहारी सतसई के दोहों का भी रूपाङ्कन किया मालूम होता है, और रामायण, महाभारत एवं पौराणिक आख्यानों के आधार पर भी अनेक सुन्दर चित्र बनाये।

माणकू को जैसे चटकीला रंग-विधान पसंद है, वैसे ही चैतू को हलके और सादे रंग अच्छे लगते हैं। पृष्ठ-भूमि को सजाने की ओर वह बहुत कम ध्यान देता है। अपनी सारी शक्ति वह चित्र के प्रधान-पात्रों को सजीव बनाने में ही खर्च करता है। उस का पोशाक का आलेखन अनुपम है। पात्रों का पहनावा दूध सा सफ़ेद होता है, अथवा कहीं कहीं हलका रंग होता है। मगर ख़ास बात यह है कि दुपट्टे या साड़ी की हरेक फहरन में विषय के अनुकूल भाव-वाहकता भरी होती है। उस के चित्रों की रेखाएँ सूक्ष्म, कोमल और वेगवती, और आलेख्य पात्रों की आकार-रचना सदैव भाव-पूर्ण होती है। स्वयं चित्रकार के संबंध में हमें अधिक कुछ नहीं मालूम। थोड़े से चित्रों पर उस का नाम अवश्य मिलता है। 'रुक्मिणी-परिणय' की पूरी कथा उस ने चित्रों में लिखी है। उस के बनाये 'सती-दाह' की कथा के भी क़रीब क़रीब पूरे चित्र मिले हैं। उस की कूंची बहुत उर्वर मालूम होती है, क्योंकि रामायण और महाभारत की कथाओं का भी उस ने रूपाङ्कन किया है।

अब तो मोलाराम, चैतू और मानकू के अतिरिक्त और भी कई चित्रकारों के नाम प्राप्त हुए हैं। जयपुर के प्रसिद्ध पोथीख़ाने में महाराज प्रतापसिंह का जो चित्र है, उस के नीचे के हाशिए पर चित्रकार ने लिखा है—

"सबी साहबराम चतेरे बणाई, संवत् १८५१॥"

शबीह के ऊपर "सबो श्री महाराजाधिराज श्री सवाई प्रतापसिंह जी ऊमरि बरस ३० संवत् १८५१" लिखा है। साहबराम चतेरे ने अपने हस्ताक्षर से अंकित अपनी शबीह आप ही बनाई, जो इस समय बॉस्टन संग्रहालय में है। नत्थू, गिरधारीदास, शीतलसिह, कनूराम, कोविदसिंह, रामबिहारी, चित्रकारों के नाम ब्रिटिश म्यूज़ियम और इंडिया ऑफिस के जॉनसन संग्रह में पाये जाते हैं। किंतु इन नामों के सिवा इन चित्रकारों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। पं० नैणसुख 'मोसवर' की भी एक अपनी शबीह अवनींद्रनाथ ठाकुर के संग्रहालय में विद्यमान है और 'रूपम्' नं० ३७ पृष्ठ ६३ में प्रकाशित हो चुकी है। चित्र देखने से ये मुसव्वर महाशय बसौली शैली के अनुयायी मालूम होते हैं।

पुराने बसौली और गुजराती चित्रों की भाँति गौड़ (बंगाल) में भी पटचित्रों का चलन रहा। १९ वीं शताब्दी के अनेक चित्रपट श्री अजित घोष ने संगृहीत किए हैं। (देखो श्री अजितघोष का लेख पृष्ठ ९८-१०४ 'रूपम्' नं० २७-२८) इन सब चित्रों में पहाड़ी चित्रों की सुकुमारता का ज़रा भी अंश नहीं है। वेग, क्रिया, ओज और प्रसाद—इस साधारण जनता की कला के विशेष गुण हैं। जैन पुस्तकों के लिए—उन की तख़्तियों के लिए—भी इसी तरह के चित्र १९ वीं शताब्दी के मध्य तक बनते रहे हैं। नीलमणिदास, बलरामदास और गोपालदास १९ वीं शताब्दी के बंगाल के प्रसिद्ध 'पटुवा' थे। रामायण, महाभारत और भागवत के विषयों के इनके आलेखन बहुत सुंदर हैं। इन चित्रों का प्राण इन की बहुत ही सजीव रेखाओं में है। इसी प्रकार के चित्र-पट—कपड़ों पर बनाये हुए आलेखन—गुजरात, जयपुर एवं संयुक्त प्रान्त में भी मिलते हैं। नैपाल और तिब्बत में तो इन की प्रथा अभी तक जीवित है। तिब्बत के

गौड़

चित्र-पट तो जगत भर में प्रसिद्ध हैं। कभी कभी ये चित्र-पट तीन तीन गज़ लंबे और १½ गज़ एवं कभी उस से भी अधिक चौड़े होते हैं। जयपुर के पोथीख़ाने में १७ वीं शताब्दी के ऋतु-चित्र कपड़े पर बने हुए हैं। ऐसे चित्र बहुत ही पुरानी परंपरा के अनुसार बने हुए मालूम होते हैं। दक्षिण-भारत में बड़े बड़े लंबे परदों पर कृष्ण-चरित का आलेखन छपा हुआ मिलता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन-समय में कपड़े पर बने हुए चित्र कभी कभी दीवारों पर भी मढ़े जाते थे। 'कथा-सरित्सागर' में इस का उल्लेख मिलता है।

१८ वीं शताब्दी के अंत में दतिया में राजा शत्रुजित (१७६२–१८०१) के ज़माने में हज़ारों की संख्या में मतिराम के 'रसराज,' 'बिहारी सतसई' और रागमालाओं के चित्र बने। इन चित्रों की शैली कुछ अनोखी है। आलेखन बहुत ही सीधा, और रंग-विधान भी सादा होता है। पहाड़ी क़लम की तरह इन चित्रों में रेखाओं की भाव-वाहक चंचलता नहीं है। चित्रों के पात्र कुछ पुतले से खड़े रहते हैं। सामान्य भित्ति-चित्रों की परंपरा के अनुसार ये चित्र बनाये हुए मालूम पड़ते हैं। ओड़छा दरबार का संबंध तो अबुलफज़ल की मृत्यु के बाद जहाँगीर बादशाह से बहुत ही घनिष्ट रहा। ओड़छा नरेश वीरसिंहदेव ही तो अबुलफज़ल के क़ातिल थे। संभव है कि १६ वीं शताब्दी के अंत में बनी हुई केशवदास की 'रसिक-प्रिया' के चित्र, जो बिलकुल ही मुग़ल शैली के हैं, ओड़छा के दरबारी चित्रकारों ने बनाये हों। दतिया की रागमालाएँ और बिहारी सतसई के चित्र पहाड़ी चित्रों की कोटि के नहीं हैं। राजस्थानी चित्रों से ज़रूर बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। इन चित्रों में विविधता बहुत ही कम है। फिर भी उन में दो तरह के चित्र पाये जाते हैं। एक में बिलकुल काला हाशिया और दूसरे में लाल हाशिया बना रहता है। काले हाशिए वाले चित्र कुछ पुराने मालूम होते हैं, और रसदृष्टि से अच्छे भी हैं।

बुन्देलखण्ड

१९ वीं शताब्दी के मध्य में पंजाब में सिक्खों का प्राबल्य बढ़ गया। छोटी छोटी पहाड़ी रियासतें सिक्खों के बढ़ते हुए प्रभाव के सामने टिक नहीं

सकीं। किंतु सिक्खों का ऐश्वर्य-काल चिरंजीवी नहीं रहा। महाराजा रणजीत-सिंह के ज़माने में पहाड़ी चित्रकारों को आश्रय मिलता रहा, परंतु सच्ची गुण-ग्राहकता के लिए ज़रूरी शांति और शौक़ का जमाना नहीं था। वैसे तो राजा रणजीत-सिंह ने लाहौर के प्रासादों में भित्ति-चित्र लिखवाये और सिक्ख गुरुओं और दरबार के प्रसिद्ध सरदारों के अनेक चित्र बनवाये, किंतु इन चित्रों में कोई विशेषता नहीं। पहाड़ी-क़लम का समय बीत चुका था। पाश्चात्य-शैली का प्रभाव बढ़ता जाता था। इसी ज़माने के अनेकानेक अंग्रेज़ों के चित्र मिलते हैं। पंजाब के मुसव्वरों को इन के कपड़े, इन की रहनसहन, सभी पर बहुत ही आश्चर्य होता रहा होगा। इसी कारण अंग्रेज़ों के कई रोचक और मनो-रंजक व्यंग-चित्र मिलते हैं। १९ वीं शताब्दी के पिछले २५ वर्ष तक बिहार में भी चित्रकला का सम्मान रहा। इन चित्रों में अवध की शैली की भाँति मुग़ल चित्र-परिपाटी का असर दिखलाई पड़ता है। परंतु भारतीय चित्रकला के आत्म-सम्मान का नाश हो चुका था। पुरानी ढब का पाश्चात्य प्रणाली से मेल होना सहज नहीं था। इसी कारण इस समय की चित्रकला भारतीयकला के अधोगति के इतिहास में केवल साधन रूप है।

सिक्ख कलम

जैसे मुग़ल बादशाहों को पाश्चात्यकला की ओर आकर्षण था, वैसे ही यूरोप में भी भारतीय चित्रों का यथेष्ट सम्मान था। १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में भारतीय चित्र सहस्रों की संख्या में यूरोप पहुँचाये गये होंगे। भारतीय-चित्रों की सब से प्राचीन पुस्तिका आर्कबिशप लॉड की है, जिस का उल्लेख हो चुका है। पाश्चात्यकला के धुरंधर एवं जगत के सर्वोत्तम चित्रकारों की पंक्ति के डच मुसव्वर रेमब्राँ ने मुग़ल-चित्रों की रेखाओं से मुग्ध हो कर उन की अनेक प्रतिकृतियाँ बनाई थीं, जो अभी तक विद्य-मान हैं। अंग्रेज़ी चित्रकार सर जोशिया रेनॉल्ड ने भी कई नक़लें बनाई थीं। एक दृष्टि से सब से महत्त्व का संग्रह ऑस्ट्रिया की साम्राज्ञी मारिया थेरिसा (Maria Theresa ई० सन् १७४०—१७८०) का है, जिस ने अपने विएना के शोइनब्रुन Schönbrunn प्रासाद के 'मिलियोननत्समर' नाम से

प्रसिद्ध कमरे को भारतीय चित्रों से ही सजाया था। २६० चित्र साठ तख़्तियों में लगे हुए हैं, और अभी तक जैसे बनाये गये थे, वैसी ही अच्छी हालत में सुरक्षित हैं। ये सब चित्र ई० १७६२ से पहले यूरोप पहुँचाए गए थे। इन चित्रों की विशेषता यह है कि १८ वीं शताब्दी की मध्य तक की भारतीय चित्रकला का यहाँ एक संक्षेप इतिहास उपलब्ध है। मुग़ल, राजस्थानी, शाही, जनसाधारण के, आखेट के, एवं मुनियों के आश्रम के, बहुत ही मनोहर आलेखन बने हुए हैं। इन सभी चित्रों का प्रकाशन विएना से हो चुका है।

मानव-सभ्यता के इतिहास में सभी प्रजाओं पर अनेक तरह से, अनेक कोनों से एक दूसरे का प्रभाव पड़ता है। शोक और आश्चर्य की बात तो केवल इतनी ही है कि पराधीन-जातियों के कार्यों की गुण-परीक्षा में बाहरी असर पर ही विशेष ज़ोर दिया जाता है। ताजमहल की रचना में भी—मुग़ल इमारतों की सुंदर पच्चीकारी में भी, इटली के शिल्प-शास्त्र का प्रभाव बताया जाता है, यद्यपि इटली भर में आगरे की साधारण पच्चीकारी की कोटि के नमूने अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। हमारे अनुपम शिल्प और मूर्तिविधान में, गांधार के वर्ण-संकर कलाकारों का असर थोड़े वर्ष पहले बताया जाता था। इसी प्रकार भारतीय चित्रकला का गहरा ऋण यूरोपीय कला के निकट कभी कभी बताया जाता है। पाश्चात्य-कला का निर्विवाद प्रभाव भारतीय चित्रकारों पर पड़ा। पर जैसे ईरानी क़लम की छाया क्षण-जीवी रही, वैसे ही पाश्चात्य कला का भी असर गौण वस्तुओं पर और थोड़े काल तक ही रहा। तैल-चित्रों की परंपरा देश में स्थापित ही नहीं हुई। गहराई (Perspective) दिखाने का प्रयोग भारतीय चित्रकारों ने नहीं किया। केवल आकृति की गोलाई दिखाने के लिए सूक्ष्म छाया-रेखाओं (Shading) का प्रयोग किया गया है। रात के अँधेरे के आलेखन में भारतीय चित्रकारों ने कुछ पाश्चात्य ढंग का अनुसरण कर के काम किया। चित्र का संपूर्ण वातावरण काले रंग में रंग कर प्रधान पात्रों को चंद्रप्रकाश से अथवा अँगीठी की आग से उद्भासित किया। यूरोपीय कला का प्रभाव १८ वीं शताब्दी के मध्य के पश्चात् बढ़ता गया, और १९ वीं शताब्दी के मध्य के बाद उसी प्रभाव ने भारतीय कला का प्राणापहरण किया।

१९ वीं शताब्दी के अन्तिम ४०-५० वर्षों में नवीन यूरोपीय सभ्यता की प्रबल तरंगों के सामने भारतीय संस्कृति कुछ फीकी सी हो गई। फिर भी जैसे संघर्ष से अग्नि प्रदीप्त होती है उसी भाँति पाश्चात्य सजीवता के अनुभव से देश में जीवन के सभी अंगों में एक नवीन जागृति आ गई। ५० वर्ष के मंथन के अनन्तर नये रुधिर का संचार हो चला। मृतप्राय कलेवर में श्वासोच्छ्वास होने लगा। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय जीवन में नये ही उल्लास की आभा दिखाई पड़ी। भिक्षाकाल—संस्कृत जीवन का दासत्वकाल पूरा होने को था। १६ वीं शताब्दी के तिब्बती तारानाथ ने पाश्चात्य हिंद की कारीगरी को अमानुषी कह कर वर्णन किया था। अब की बार अरुणोदय पूर्व में—गौड़ में होने को था। बंगाल में ही विजातीय संस्कृति भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा चिरपरिचित थी। शायद उसी कारण आत्मीयता का पुनः स्मरण भारत में सब से पहले वहीं हुआ। साहित्य और कला के क्षेत्र में एक नई स्फूर्ति का आविष्कार हुआ। उस में देशाभिमान, गौरव, आत्मसम्मान, अनुभवगत औदार्य, दृष्टि की विशालता, गुणग्राहकता, और सेवाभाव का एक अनोखा संमिश्रण था। प्रारंभ में बहुत ही छोटा स्रोत था। परंतु भारत के भाग्यचक्र की दशा अब ऊपर को थी। संमोहनकाल समाप्त होने को था। भावी की उज्ज्वल घड़ियों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती थी। थोड़े ही काल में जो ज्योति टिमटिमा रही थी—प्रतिकूल वायु के थपेड़ों से भयभीत हो अस्थिर सी थी—वह एक तेजोमय राशि में प्रदीप्त हो उठी। भारत के क्षीण, दुर्बल कलेवर में नया जीवन बसंत की अनुपम सृष्टि के समान पल्लवित हो उठा और इस सनातन पुण्यभूमि में नवीन युग का प्रारंभ हुआ। भारतीय आत्मा की प्रकाश की किरणें पुनः फैल रही हैं। अब भारत विवश भिखारी नहीं, किंतु संसार की सभ्यता का मौलिक सेवक और अपनी आत्मीयता का—अंतर्प्रेरणा का—अनन्य प्रतिनिधि है। विश्वसाहित्य एवं कला के क्षेत्र में भी भारत का स्थान अब सुरक्षित है। प्रजा के उत्थान काल में सभी वस्तुओं की गति ऊपर की ओर होती है। भारत का अतीत जो उज्ज्वल था, तो भविष्य और भी यशस्वी होने में अब शंका का स्थान नहीं है।

तेजस्विनावधीतमस्तु

परिशिष्ट

(भारत की एक महिला चित्रकार)

लाहौर म्यूज़ियम में 'बसौली'-शैली के गीतगोविन्द के अनेक सुन्दर चित्र लगे हुए हैं। उनमें से एक चित्र के ऊपरी विभाग में दो सुवर्णांङ्कित पंक्तियाँ—जो चित्र ही का अविभाज्य अङ्ग हैं—लिखी हुई मिलती हैं।

मुनि-वसु-गिरि-सोमैः संमिते विक्रमाब्दे गुणगणितगरिष्ठा मालिनी-वृत्त-वृत्ता।
व्यरचयदजभक्ता **माणकू** चित्रकर्त्ता ललितलिपिविचित्रं गीतगोविन्दचित्रम्॥

(देखो पृष्ठ १२)

इस माणकू का टेहरी और बसौली दोनों शैली के गीतगोविन्द का 'चित्र-कर्त्ता' होना सर्वथा असम्भव सा जान पड़ता है। टेहरी गीतगोविन्द निःसन्देह १६ शताब्दी के प्रारम्भ का है। राजा सुदर्शनशाह के दर्बार में चित्रकारों को उदार आश्रय मिला और सहस्रों की संख्या में पौराणिक और काव्य-ग्रंथ-सम्बन्धी चित्र बने। इसी कारण यह जानते हुए भी कि 'गिरि' शब्द की गणना प्रायः ७ और क्वचित् ही ८ होती है, मैंने 'मुनि-वसु-गिरि-सोम' से संवत् १८८७ की धारणा की थी। शैली और आलेखनविधान से टेहरी चित्रों का समय संवत् १७८७ का होना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि माणकू-सम्बन्धी श्लोक टेहरी चित्र के पुश्त पर सादी स्याही से लिखा हुआ मिलता है। एकाध दो और चित्रों के पुश्त पर 'माणक' का नाम दिखाई पड़ा है। मुग़लशैली के चित्रों पर लिखे हुए नाम अनेक बार जाली साबित हुए हैं।

इसी से टेहरी चित्रों पर का माणकू भी जाली हो तो कोई नई बात नहीं होगी। परन्तु बसौली चित्र पर लिखे हुए श्लोक का सही और उसी समय का होने में शङ्का के लिए स्थान ही नहीं है, क्योंकि श्लोक की सुवर्णाङ्कित पदावली चित्र का आवश्यक अङ्ग है। इससे मेरा यह अनुमान है कि टेहरी गीतगोविन्द के चित्र पुराने और प्रसिद्ध माणकू के नाम पर

आरोपित किये गये हैं और संभवतः राजा सुदर्शनशाह के दर्बार के किसी चित्रकार-विशेष की कृतियाँ हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये बसौली-शैली के चित्र क्या संवत् १७८७ के हो सकते हैं या नहीं। अभी तक इन चित्रों का विकास १८ शताब्दी के अन्तिम वर्षों में हुआ माना जाता है। किन्तु संवत् १७८७ साल ठीक है तो इस चित्रशैली का उत्थान-काल १७वीं शताब्दी के अन्त में मानना होगा। आलेखन विधान के आधार पर इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि इस अनोखी शैली से बसौली रियासत से कोई सम्बन्ध है या नहीं। बसौली जम्मू-प्रान्त की एक छोटी-सी तहसील है। बसौली क़सबे में कुछ पुराने प्रासादों के और मन्दिरों के खँडहर ज़रूर हैं। किन्तु इस सजीव चित्र-शैली के कोई प्रमाणभूत भित्ति-चित्र उपलब्ध नहीं हुए हैं; न तो ऐसी कोई परम्परा भी सुनने में आई है। क़सबा बसौली कम्बलों के लिए तो प्रसिद्ध है, किन्तु कला-सम्बन्धी कोई ख्याति मेरी काश्मीर-यात्रा में सुनने में नहीं आई है। इसी से मेरी धारणा तो यह है कि 'बसौली' क़लम का जन्मस्थान जम्मू है; जहाँ अभी तक १८वीं और १९वीं शताब्दी के देवस्थानों में और प्रासादों में अनेकानेक सुंदर भित्ति-चित्र बने हुए मिलते हैं। जम्मू की कारीगरी अभी तक काश्मीरराज्य में प्रसिद्ध है। १८वीं शताब्दी के उत्तर भारत के इतिहास में जम्मू राज-नगर एक महत्त्व का स्थान था और मेरा तो यह ख्याल है कि काश्मीर की कलाओं का महान् केन्द्र जम्मू ही था। 'बसौली' चित्र भी संभवतः वहीं के समर्थ राजाओं के आश्रय से बनवाये गये हैं। बसौली के इतिहास में किसी कलारसिक व्यक्ति-विशेष का परिचय नहीं मिलता है।

एक और प्रश्न का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। माणकू-संबंधी श्लोक का अर्थ वैसे तो साफ़ है। 'माणकू' शब्द 'ऊ'कारान्त होने से स्त्रीलिंग जान पड़ता है और इसके सभी विशेषण—गुण-गणित-गरिष्ठा, मालिनी-वृत्त-वृत्ता, अज-भक्ता स्त्रीलिंग के ही हैं। केवल 'चित्रकर्त्ती' शब्द पुँल्लिंग है। क्या माणकू कोई महिला चित्रकार थी, जिसकी कृतियाँ ऐसी प्रसिद्ध हुई कि सौ वर्ष बाद के बने हुए टेहरी गीतगोविन्द के चित्र उसके नाम पर ही आरोपित किये गये हैं? श्लोक का सीधा अर्थ किया जाय—(और करना भी चाहिए) तो यह रहस्य खुलता है कि विक्रम-संवत् १७८७ में अति गुणवती मालिनी छंद लिखने में कुशल विष्णुभक्त चित्रकर्त्री माणकू ने नाना प्रकार के सुंदर चित्रों से सुशोभित गीतगोविंद की रचना

की। भारतीय इतिहास में कुशल स्त्री-चित्रकारों के कई उल्लेख मिलते हैं। संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में चित्रकला-कुशल स्त्रीपात्रों के अनेक नाम सुपरिचित हैं। जैनवाङ्मय में साध्वियों के बनाये हुए चित्रपटों के कई उल्लेख हैं। किन्तु आज तक मुग़लकाल के और शहीफ़ा बानु का नाम छोड़कर स्त्री-चित्रकारों के बनाये हुए चित्रों के कोई नमूने प्राप्त नहीं हुए हैं। परन्तु इससे यह मानने का कोई कारण नहीं है कि जैसे साहित्यक्षेत्र में नारी-जाति के अनेक देदीप्यमान नाम बहुत प्राचीन काल से परिचित हैं, वैसे ही कला-विषय में भी महिला-जाति धुरन्धर चित्रकार न हुई हो। 'माणकू' जो एक महिला थी और श्लोक से तो यही सिद्ध होता है, तो भारतीय कला के इतिहास में, साहित्यक्षेत्र में मीरा के समान, अद्वितीय है और रहेगी। माणकू क्या सचमुच हिन्दुस्तान की एक-मात्र और सर्वोत्तम महिला चित्रकार है ?

१-६-१६३४ मुज़फ़्फ़रनगर

---

* देखो श्रीरामचन्द्र काक का "Antiquities of Basohli and Ramnagar" in Indian Art and Letters. (2nd issue 1933, pp. 65—91.)

ग्रंथ-सूची

यहाँ भारतीय-चित्रकला के थोड़े से ग्रंथों की सूची दी जाती है जो पाठक के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकती है। डा० आनंदकुमार स्वामी ने अपने ग्रंथ में विस्तृत सूची दी है। अभाग्यवश हिंदुस्तान में कलात्मक विषयों का कोई भी पर्याप्त पुस्तकालय नहीं। एक तो पुस्तकों का मँहगापन, दूसरे शिक्षित एवं धनाढ्य जनों की विषय के प्रति अरुचि इस अभाव के मुख्य कारण हैं। संयुक्तप्रांत में कम से कम भारत कला-भवन काशी, वा हिन्दू विश्व-विद्यालय जैसे स्थान में कला की पुस्तकों का एक सम्पन्न पुस्तकालय होना चाहिए।

Ananda K. Coomarswamy:

(1) History of Indian and Indonesian Art, London

(2) Indian Drawings, 2 Vols., London

(3) Rajput Painting, 2 Vols., London

(4) Arts and Crafts of India and Ceylon, Edinburgh

Ivan Stchoukine:

(1) La Peinture Indienne à l'époque des Grands Moghols, Paris (यह पुस्तक बहुत ही महत्त्व की है)

Strygowski:

(1) Die Indische Miniaturen Im Schlosse Schönbrunn

Percy Brown:

(1) Indian Painting under the Mughals A.D. 1550 to A.D. 1750 (Oxford)

(2) Indian Painting

Lawrence Binyon:

(1) Akbar, 1932

Vincent Smith:

(1) Akbar, 1932

Sir Thomas W. Arnold:
(1) Painting in Islam, (Oxford) 1928
(2) Legacy in Islam, 1932
Abul Fazl:
(1) Ain-i-Akbari in English Translation
(2) Akbarnama in English Translation
Lawrence Binyon and Sir T. W. Arnold:
(1) The Court Painters of the Grand Moghuls, (Oxford)
(2) Jahangir's Tuzuk-i-Jahangiri (Eng. Translation)
E. Blochet:
(1) Musalman Painting XII—XVII century, London
N. C. Mehta:
(1) Studies in Indian Painting, Bombay
(2) Gujarati Painting in the 15th century (London)
The Rupam—Edited by O. C. Gangoly
Réné Grousset:
(1) India
J. V. S. Wilkinson:
(1) The Lights of Canopus or Anvār-i-Suhaili
E. B. Havell:
(1) Indian Sculpture and Painting, 1908
Lady Herringham:
(1) Ajanta Frescoes
The India Society:
(1) The Bagh Caves, 1927
C. Stanley Clarke (Victoria and Albert Museum):
(1) Indian Drawings, 1922
C. M. Villiers Stuart:
(1) Gardens of the Great Mughals, 1913
O. C. Gangoly:
(1) Masterpieces of Rajput Painting
Lawrence Binyon:
(1) Poems of Nizam (Situdio Ltd.) 1928

भारतीय चित्रकला

शुद्धाशुद्धपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१०	आबेहूब	हूबहू
३	१२	किया जाता	किया जाता है
१६	२५	तलना	तुलना
१७	२५	समझाने	समझने
२१	१९	यह	यह है
२२	२०	प्रमाद	प्रमोद
२८	१०	वरिजो	वणिजो
३६	१६	चित्रट:	चित्रपट:
३९	४	जामा-मसिजिद	जामा-मस्जिद
४९	१७	बनावई	बनवाई
५१	१	ह्रास हा	ह्रास हो
६०	२४	राजपूतानी	राजपूतनी
९२	४	मोलाराम का	मोलाराम की
100		Nizam	Nizami